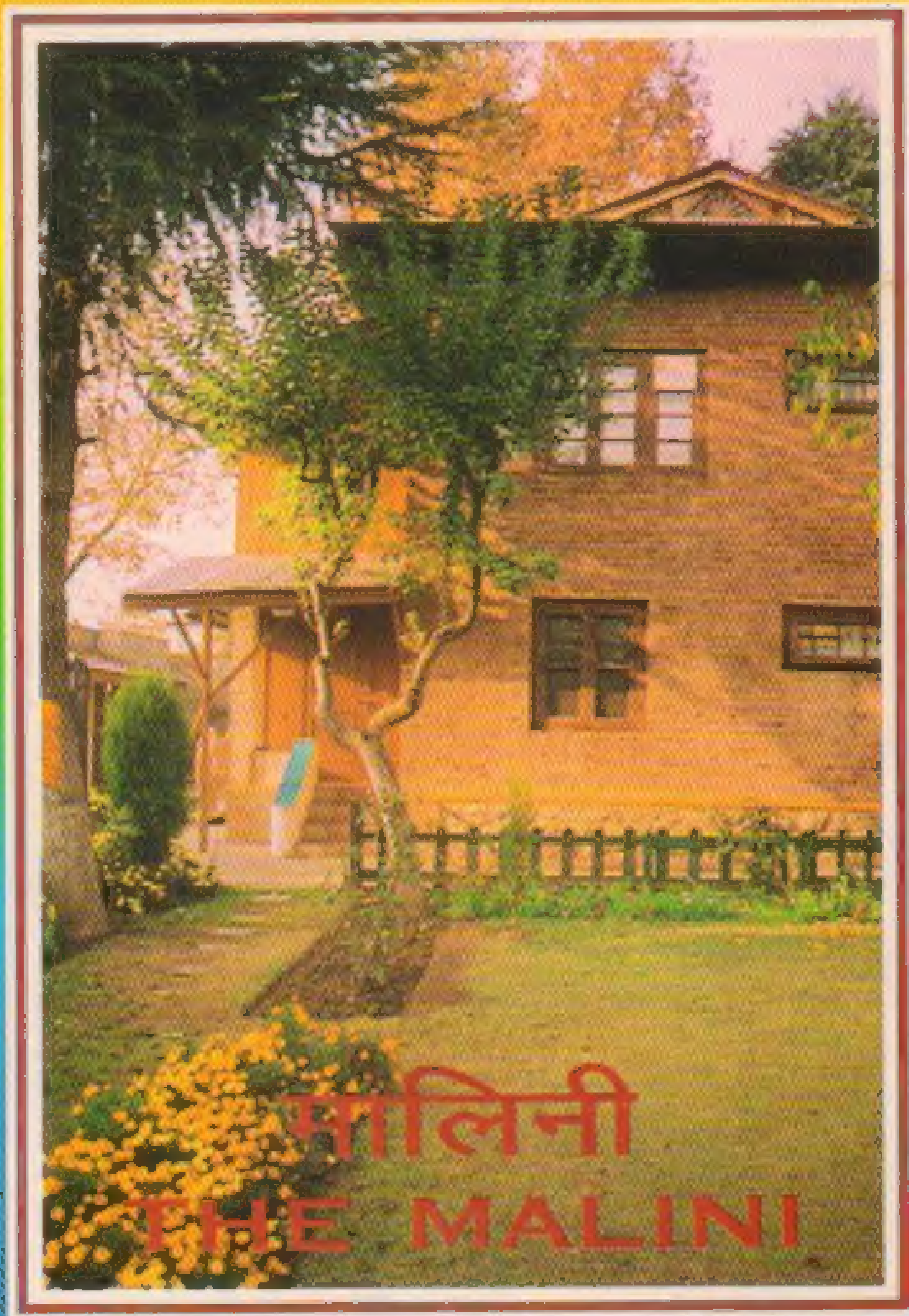
OCTOBER, 1997





ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Vol. III NO. 3 ISSUE X
OCTOBER, 1997



मालिनी

THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी।।

Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union with her all the treatises of non-dualistic order achieve the nature of divine potency.

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Publishers :
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180 002.
Tel. : 555755

Branch Office :
Ishwar Ashram Trust
Delhi Chapter
C/o Capt. Kachroo
J-77 Kalkaji, New Delhi - 110 019
Tel. : 6430226

October 1997
Price : Rs. 15.00

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

सम्पादक की लेखनी से

सद्गुरु महाराज के निर्वाण जयन्ती दिवस की स्मृति में 'मालिनी' का प्रस्तुत अंक गुरु महाराज के ही चरणों में अर्पित करते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है। पाञ्चभौतिक तत्त्वों को पंचभूतों में मिलाकर दैहिक आवरण को त्यागकर, आज के ही दिन ईश्वरस्वरूप ने वह अद्धितीय तादात्म्य प्राप्ति अर्जित की थी जिसको पाने के लिए बाल्यकाल से ही उन्होंने साधना के उन आयामों को लाँघा था जिन्हें लाँघना दुष्कर तथा असम्भव होता है। उन्होंने कंटीले मार्ग पर चल चलकर बाल्यावस्था से ही सामने आयी चुनौतियों का डट कर मुकाबला किया और अपने जीवन को पलट दिया। विनय और शिष्टाचार के खम्भों पर, अनुभव की वस्तु धर्म की इमारत खड़ा करके कल्पना की सहायता से प्रश्नों का समाधान करना सदा के लिए त्यागा और अहं परामर्श के रंग में रंगकर अपना रंग सदा के लिए उज्जवल किया। श्रद्धा सम्पन्न होकर कर्मद्वार की अनेकों अर्गलायें खोल दी और वह विद्या, वह ज्ञान, वह चिन्तन, वह विचार तथा वह सिद्धि प्राप्त की जो अवर्णनीय है। ध्येय भ्रष्ट होने के भय से यश की लिप्सा को मिथ्या अभिमान मानकर हेय समझा। महत्त्वाकांक्षा के बीज को ज्ञानाग्नि से दग्ध कर पनपने के अयोग्य बना दिया। "साधना में ढीलापन उचिन नही, उद्यम, उत्साह और लक्ष्य की सिद्धि के लिए तीव्र आतुरता की आवश्यकता है" इस तथ्य को क्रियान्वित करके प्रमाणित किया। विभिन्न शास्त्रों का गहनमनन चिन्तन व अनुशीलन करके तत्त्वज्ञान पाकर भी तत्त्वज्ञानी होने का दावा नहीं किया। सद्गुरुमहाराज का यह स्वरूप सनातन ज्योतिस्वरूप है और आध्यात्मिक सिद्धियों की प्राप्ति का सहज उपाय है। समस्त शिष्य परिवार के लिए आज का दिन विशेष महत्त्व का है क्योंकि आज के दिन ही हमें अपनी उस स्थिति पर विचार करना है जो उस मछली की तरह है जो समुद्र की अनन्तता और अपारता से अपरिचित होकर छोटी सी नदी को ही शक्तिशाली और अनन्त समझती है। क्या खोया क्या पाया की धारणा को अपने में संजोये हमें आज गुरुभक्ति में लीन होकर गुरु दीक्षा के महत्त्व को अच्छी तरह से भाँपना चाहिए क्योंकि सभी साधनाओं में गुरु साधना ही बेजोड़ है और गुरुमंत्र ही सब मन्त्रों में से उत्तम है। इतना ही नहीं सद्गुरु ही इस सारे ब्रह्माण्ड के सिरमौर हैं, वे ही सृष्टि, स्थिति व संहार तथा सारे शास्त्रों के उत्पत्तिस्थान हैं। आज के दिन हम गुरुमंत्र के बाह्य और गुह्य दोनों ही रूप भलीभांति समझ लें क्योंकि निर्वाण जयंती के दिन पर सद्गुरु महाराज प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने उपस्थित होकर संशयात्मक प्रश्नों से ग्रस्त हमारे मस्तिष्क पटल को ज्ञान और सद्बुद्धि की अखण्डज्योति से सदा के लिए प्रकाशित करेंगे ऐसी पूर्ण आशा है।

मालिनी के गतांक से जिन दो अनाघ्रात पुष्पों से हमने मालिनी के उपवन को सजाया, उनकी मोहक सुरभि से आध्यात्मिक प्रेमियों को नवीन आनन्द की अनुभूति होगी, और आगे भी इसी तरह होती रहेगी, ऐसा दृढ़विश्वास है। स्वामी जी महाराज ने इन दो आगम ग्रन्थों (शिवसूत्र और

विज्ञानभैरव) को अपने गहनतम अनुभव के आधार पर जिस सरल रीति और सुगम शैली में समझाया वह बेजोड़ है। नपेतुले शब्दों का विन्यास अन्यतम है, और वाक्यार्थ और भावार्थ को अलग अलग ढंग से समझाया गया है। नये अंक के प्रकाशन तक पाठकों को इस अमूल्य संपत्ति को पाने की प्रतीक्षा जिस अधीरता से करनी पड़ती है, उस के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

पिछले अंक में क्रमशः चलने वाले "अष्टोत्तरशतनामावली का अंग्रेजी अनुवाद और कश्मीर शैवदर्शन के वातायन से" नामक विद्वान् लेखकों के लेख, कई कारणों से न दे सके। इस अंक से पुनः उनका आरम्भ करके हमें प्रसन्नता हो रही है।

जो पुष्प गले में पड़ा हो उसे उठाकर हम भगवान के चरणों में नहीं चढ़ा सकते पर आज के दिन गन्दे शरीर को अपने सद्गुरु चरणों पर बिना झिझक से चढ़ाकर अहं को हम मिटाने का सदा प्रयास करें। समस्त गुरुपरिवार, पाठकगण तथा आत्मोन्नति के इच्छुक, आज के गुरुनिर्वाण-जयन्तीदिवस पर सद्गुरु महाराज की अपार कृपा से महिमान्वित होके दिव्यबोध को प्राप्त करें, यही मनोकामना है।

जय गुरुदेव।

आश्विन कृष्ण-चतुर्थी
सद्गुरु निर्वाणजयन्तीदिवस
१९ सितम्बर, १९९७

प्रो० मखनलाल कुकिलू

MALINI - Quarterly Magazine

Annual Subscription : Rs.60.00

Price Per Copy : Rs.15.00

Overseas Subscription : US$ 20.00

All correspondence & subscription must be sent to Administrative Office :
2 Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180002

Śiva-Sūtras
with Vimarśinī Sanskrit commentary of Śrī Kṣemarāja

II

Translated by
Īśvar Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Māharāj

Continued from last issue

तत्र प्रथमं नरेश्वरभेदवादि प्रातिपक्ष्येण चैतन्यपरमार्थतः शिव एव विश्वस्य आत्मा इति आदिशति–

तत्र–in this look, प्रथमं–at first, नरेश्वरभेदवादि–those who hold this view that individual is always individual being and universal being is always universal being, प्रातिपक्ष्येण–on the contrary, परमार्थतः–in reality, चैतन्य–consciousness, शिव एव–of Śiva alone is विश्वस्य–of the universe, आत्मा–form, इति–by this, आदिशति–hints or teaches:

In this book the first Sūtra hints that individual being is one with universal being and Consciousness of Śiva alone is, in reality, the form of the universe. It is in opposition to those who maintain that individual is always individual being and universal being is always universal being.

चैतन्यमात्मा॥ १॥

Caitanyamātmā

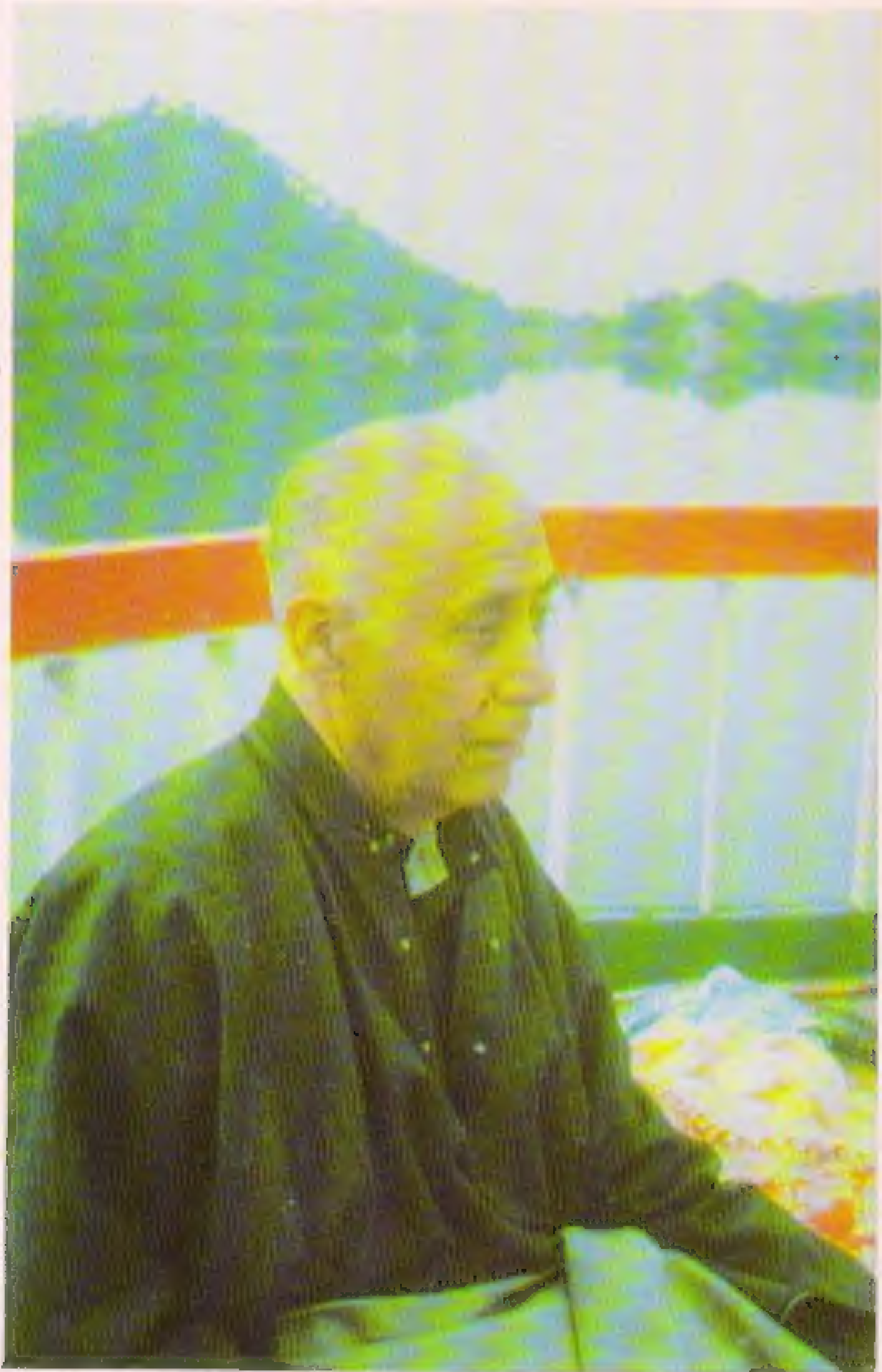
Independent state of the Supreme God consciousness is the reality of everything, or

Universal Consciousness is one's own nature.

इह अचेतितस्य कस्यापि सत्त्वाभावात् चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति, चेतयते इति चेतनः–सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः, तस्य भावः चैतन्यं–सर्वज्ञान-क्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यं, उच्यते। तत् च परमशिवस्यैव भगवतः अस्ति, अनाश्रितान्तानां तत्परतन्त्रवृत्तित्वात्।

इह–in this world, अचेतितस्य–not in Consciousness कस्यापि–onewho, सत्त्वाभावात्–is not existing at all. चितिक्रिया–the act of Consciousness,

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

सर्वसामान्यरूपा–is same in consciousness and unconsciousness, इति–so चेतयते इति चेतनः–conscious being is that who makes others Conscious and सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः–who is independent in each and every knowledge and each and every action, तस्य भावः चैतन्यं–this state is called independent, state of Supreme God consciousness, सर्वज्ञान क्रिया सम्बन्धमयं–who is the uniting agency of all knowledge and of all action, परिपूर्णं–complete, स्वातन्त्र्यं–independence of God consciousness, उच्यते–is said. तत् च–that, अस्ति–is भगवतः परमशिवस्य एव–possessed by Lord Śiva only, अनाश्रितान्तानां–from earth (पृथिवी तत्त्व) to Anāśrita Śiva, तत्परतन्त्रवृत्तित्वात्–all beings are dependent to that God consciousness of Śiva.

In this world, one who is not Conscious is not existing at all, the act of Consciousness is same in Consciousness and unconsciousness so conscious being is that who makes others conscious and who is independent in each and every knowledge and each and every action. This state is called complete independent, and is the uniting agency of all knowledge and of all actions. That is complete independence of God consciousness which is possessed by Lord Śiva only, because from earth to Anāśrita Śiva all beings are dependent to that God consciousness of Śiva.

स च यद्यपि नित्यत्व–व्यापकत्वामूर्तत्वाद्यनन्त धर्मात्मा, तथापि नित्यत्वादीनां अन्यत्रापि संभाव्यत्वात्, अन्यासंभविनः स्वातन्त्र्यस्यैव उद्धुरीकार प्रदर्शनं इदम्। इत्थं धर्मान्तर प्रतिक्षेपतश्च चैतन्यं इति भावप्रत्ययेन दर्शितम्। तत् एतत् आत्मा न पुनरन्यः कोऽपि भेदवाद्यभ्युपगतो भिन्नाभिन्नस्वभावः। तस्य अचैतन्ये जड़तया अनात्मत्वात्। चिदात्मत्वे भेदानुपपत्तेः। चितो देश कालाकारैः चिद्व्यतिरेकात् अचेत्यमानत्वेन असद्भिः चेत्यमानत्वेन तु चिदात्मभिः भेदस्य आधातुं अशक्यत्वात्; चिन्मात्रत्वे तु आत्मनां स्वभाव भेदस्य अघटनात्; वक्ष्यमाणनीत्या अव्यतिरिक्त मल सम्बन्ध योगेनापि भेदस्य अनुपपत्तेः; प्राक् मलस्य सत्त्वेऽपि मुक्तिदशायां तदुपशमनात् नानात्मवादस्य वक्तुं अशक्यत्वात्, मलसंस्कार संभवे वा, अनादिशिवात् कथंचित् अपकर्षे वा, मुक्तशिवाः संसारिण एव स्युरिति। यथोक्तम् "चैतन्यमेक एवात्मा" इति नानात्मवादस्य अनुपपत्तिः सूचिता।

स च–independent-Śiva (has), यद्यपि–although, नित्यत्व–eternity, व्यापकत्व–

all pervasiveness, अमूर्तत्व–formlessness आदि–etc. अनन्त धर्मात्मा–numberless attributes. तथापि–yet. नित्यत्वादीनां–eternity etc. अन्यत्रापि–elsewhere also, संभाव्यत्वात्–are possible, अन्य असंभविनः–in any other being not possible, स्वातन्त्र्यस्यैव–of complete freedom, उद्धुरीकार प्रदर्शनं इदम्–it is meant to show the predominance, इत्थं–by this way, धर्मान्तर–other aspects प्रतिक्षेपतपक्ष–excluding, चैतन्यं इति–the word चैतन्य means स्वातन्त्र्य independent way of consciousness, भावप्रत्ययेन–by an abstract noun, दर्शितं–has been indicated so चेतना is not put in सूत्र (Sūtra) but चैतन्यं an abstract noun, means independent state of consciousness. तत् एतत्–this independent state of consciousness, having absolute freedom, is आत्मा–self of everything, whatever existing in the world, न पुनः अन्यः–not anything else, कोऽपि–of varied nature, भेदवादि–who hold this view that there is difference among selves are भेदवादी, अभ्युपगतः–assumed, भिन्नभिन्न स्वभावः–having different aspects. तस्य–if self अचैतन्ये–is treated as devoid of Consciousness, then जडतया–it would be unconscious matter, अनात्मत्वात्–thus not self. चिदात्मत्वे–If self is considered to be essence of Consciousness, भेदानुपपत्तेः–then there cannot he difference between each and every being. चितो–Consciousness, देशकालाकारैः–space, time and form, चित् व्यतिरेकात्–if they are separate from independent state of Lord Śiva. अचेत्यमानत्वेन असद्भिः–they are not existing at all being deprived of consciousness. चेत्यमानत्वेन तु–if we accept these aspects filled with God consciousness चिदात्मभिः–with Conscious selves, भेदं आधातुं अशक्यत्वात्–it is not possible to establish difference. आत्मनां चिन्मात्रत्वेतु–If आत्मा or self is only consciousness, स्वभावभेदस्य–difference in the nature, अघटनात्–cannot be ascertained. वक्ष्यमाणनीत्या–will be explained in the following way अव्यतिरिक्त–cannot be outside consciousness. मल सम्बन्धयोगेन अपि–contact with मल (limiting condition) भेदस्य अनुपपत्तेः–difference can not be established. प्राक्–before, मलस्य सत्त्वेऽपि–if that ignorance was existing before you got realization, मुक्तिदशायां–in the state of realization तदुपशमनात्–it vanishes, when after realization it did not exist it was not existing at all. नानात्मवादस्य–the theory of the plurality of self, वक्तुं अशक्यत्वात्–cannot be maintained. मलसंस्कार संभवे वा–possibility of the residual traces of the limiting condition (मलं) (even in the state of मुक्ति) अनादिशिवात्–from the beginning less Śiva. कथंचित्–even then, अपकर्षेवा–far below मुक्तशिवाः–liberated souls, संसारिणः एव स्युः–just like ignorant people,

you are as good as संसारी. यथोक्तम्–as has been said, चैतन्यमेक एवात्मा–the reality of self is चैतन्य independent consciousness इति thus, नानात्मवादस्य–the theory of plurality of self, अनुपपत्तिः–the invalidity, सूचिता–indicated.

Although that complete independent state of Śiva is possessed by many aspects like eternity, all pervasiveness, formlessness etc. yet these eternity etc. aspects are possible elsewhere also, here it is meant to show the predominance of complete freedom which is not possible in any other being. By this way highest independent state of Lord Śiva has been indicated in the form of an abstract noun चैतन्य (Caitanya) by excluding other aspects The independent state of Consciousness having absolute freedom is self of everything whatever exists in the world, not anything else of varied nature having different aspects as agreed by pluralists. If self is treated as devoid of Consciousness then it would be unconscious matter and thus not self. If self is considered to be essence of consciousness, then there cannot be difference between each and every being. Difference in the case of consciousness cannot be established by means of space, time and form, if they are separate from independent state of Lord Śiva they are not existing at all. If we accept these various aspects filled with God Consciousness, then it is not possible to establish difference with conscious selves. If self is only consciousness, difference in the nature cannot be ascertained. Difference cannot be established on account of their contact with limiting condition (मल) since that too cannot be outside consciousness, as will be cleared in the following way If that मल (limiting condition) was existing, before you got realization, and in the state of realization if it vanishes then after realization it did not exist at all. The theory of the plurality of self cannot be maintained. If it is established that a possibility of the residual traces of मल remain behind even in the state of liberation or one is even then far below the Anādiśiva, then those liberated souls would be as good as संसारी As has been said, the reality of self is caitanya (complete independent Consciousness) Thus the theory of plurality of self has been refuted.

(to be continued)



Kālī in Tantrāloka

Dr. B N. Pandita

II

The impressions of his discovery of being none other than Almighty God, powerful to manifest His divine activities with respect to whole exixtence, phenomenal and non phenomenal. He recognises the essential nature of his I consciousness as none other than Kālī, the Godhead of the Almighty God playing *Kalanā*, the fivefold divine play of phenomenal manifestation, through her twelve aspects. Thus says Abhinavagupta about such doctrine :

प्रमातृवर्गो मानौघः प्रमाश्च बहुधा स्थिताः।
मेयौघ इति यत्सर्वमत्र चिन्मात्रमेव तत्॥
इयतीं रूपवैचित्रीमाश्रयन्त्याः स्व संविदः।
स्वाच्छन्द्यमनपेक्षं यत्सा परा परमेश्वरी॥
इमाः प्रागुक्तकलनास्तद्विजृम्भोच्यते यतः।
क्षेपो ज्ञानश्च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात्॥

Pramātrvargo manaughah pramaśca bahudhā sthitāh
Meyaugh iti yatsarvamatra cinmatrameva tat.
Iyatīm rūpa vaicitrīm āśrayamtyāh sva-samvidah;
Svācchandyam anapekṣam yat sa para Parameśvarī
Imāh pragukta-Kalanās-tad-vijrmbhocyate yatah.
Kṣepo jñanam ca samkhyānam gatirnāda iti kramāt   *(T A IV-171 to 173)*

The whole existence consisting of knowing subjects of different categories, all instrumental means of arriving at correct knowing, various correct knowings and the multitude of knowable objects, all this is, in reality, the consciousness alone. Self willed and independent potency of the consciousness of the self in taking up all such multifarious forms is the highest authority that is called the Mother Goddess. It is so because all these previously mentioned manifestations are first some steps of the outward growth of that divine potency and are termed as (1) *kṣepa* (throwing out), (2) *jñāna* (perception), (3) *saṃkhvana* (forming definite ideation), (4) *gatih* (cognition) and *nâda* (relaxation on self awareness).

(T V. IV-171 to 173)

A practitioner of *Kāli-naya* visualizes the powers of his own self-awareness as embracing and engulfing, one by one, the different phenomena of twelve varieties around him, into his I-consciousness with the help of his twelve Kālīs, the twelve aspects of the power of his self aware I-consciousness. He feels as if he were swallowing through his powers the fourfold environment consisting of *pramātr, pramana, prameya* and *prama,* all of which are undergoing creation, preservation and absorption and appearing thus in twelve forms in all.

Since Kālī, as the divine power of God, manifests all the four elements of the process of knowing, discussed above as its subject, object etc., it is she who is the source and the real essence of the manifestation of pramātṛ-hood. That is to say that everything about phenomenal knowing, appearing as in the universe, is in fact she alone. Kāli has therefore been termed as the function of animation *Matrsadbhāva* in Trika Āgamas. Thus says Abhinavagupta about it :

मातृसद्भावसंज्ञास्यास्तेनोक्ता यत्प्रमातृषु।
एतावदन्त संवित्तौ प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत्।।

Mātrsadbhāva-sanjnāsyāstenokta yatpramātrṣu
Etāvadanta samvittau pramatrtvam sphuṭibhavet (T A IV-177)

It is named as Matṛ-sadbhāva (real essence of the knowing subject), because the whole process of knowing conducted by all knowing subjects becomes quite clear in the manifestation of such process. (T.A. IV-177)

Besides, if the absolute consciousness were shorn of its power and its tendency towards outward manifestation, termed as Kalanā, it would lose all beauty and charm. Kālī, the sourse of all beauty in the absolute reality, is therefore called in *Niśāṭana-Āgama* as *Vāmeśvarī,* suggesting mastery over all beauty. The original meaning of the word Vāma is `beautiful'. It carries such sense in the name of *Vamadeva,* a divine form of Śiva *Vamācara* is a system of theology prescribing charming activities with respect to sweet and beautiful objects The words *Vamoru, Vāmalocana, Vāmangi* etc carry such sense in Sanskrit literature as well. Thus says

Abhinavagupta about such Vāmeśvarī :

वामेश्वरीति - शब्देन प्रोक्ता श्रीनिशिसंचरे।

Vāmeśvarīti-śabdena prokta śrī niśi-samcare (T A IV-178)

Śrī Niśācara Agama mentions it by name as Vāmeśvarī, the deity with all beauty.

(T A.IV-178)

Such subjective contemplation on one's own divine power has been discussed in full detail as the most important practice of *Śakta-upaya* in the *Tantrāloka* of Abhinavagupta. His *Tantrasāra* also deals with it in sufficient detail. It is said to be very quick in yielding its results and that made it very popular with the practitioners of *Trika* system. Being highly esoteric in its nature, it has been just hinted at in *Mālinivijaya* and *Devī yāmala* Tantras where the terms *Mātṛ-sadbhāva* and *Kāla-karsinī* have been mentioned.

(M.V.T. VIII-34). Abhinavagupta refers to such mention and Jayaratha quotes the pasage.

देवीयामल शास्त्रे साकथिता कालकर्षिणी

श्री पूर्वशास्त्रे सा मातृ-सद्भावत्वेन वर्णिता

Devi-yāmala śāstre sākathita Kāla karṣinī,
Śrīpūrva-śāstre sa mātrsadbhavatvena varnitā (T A III-70,71)

Devīyāmala Āgama refers to it by calling it Kālakarṣini (the manifestor of the concept of time).

Śrī Pūrva-śāstra (Mālinī-vijaya) calls it as Mātr sadbhāva (the essence of the subject of knowing).

(T.A. III-70,71)

Trika-sāra, an ancient work on Trika System, mentions it as the deity surrounded by twelve yoginīs and Abhinavagupta refers to such mention while discussing Kālīs. (T.A.III-254).

Such references in *Tantraloka* prove that *Kalīnaya* had already appeared as a part and parcel of the Trika system long before Abhinavagupta.

The vowel sounds, excluding the four ennuchs, ṛṝḷḹ (ऋ, ॠ, ऌ and ॡ), have been accepted as the twelve Kālīs in *Matṛkāyoga* of *Śāmbhava-Upāya*. Thus says Abhinavagupta about the twelve Kālīs shining as twelve vowels on the basis of ancient śāstras :

आसामेव समावेशात् क्रियाशक्तितयोदितात्।
संविदो द्वादश प्रोक्ता यासु सर्वं समाप्यते।।
एतावत् देवदेवस्य मुख्यं तच्छक्तिचक्रकम्।
एतावता देवदेवः पूर्ण शक्तिः स भैरवः।।
परामर्शात्मकत्वेन विसर्गाक्षेपयोगतः।
इयत्ता कलनात् ज्ञान ताः प्रोक्ताः कालिकाः क्वचित्।।

Āsameva samāveśat kriyā śaktitayoditat.
Samvido dvādaśa prokta yāsu sarvam samapyate.
Etāvat deva-devasya mukhyam tac chakti cakrakam
Etavatā devadevah pūrna śaktih sa bhairavah
Parāmarśātmakatvena visargākṣepa-yogataḥ
I-yattā kalanat jñāna tāh proktah kālikāh kvacit *(T.A. III 250 to 253)*

Pure consciousness, being charged with these very twelve types of divine potency, termed as its active powers, suggested by twelve vowel sounds from a to ah, not including the four ennuch sounds, contains the whole world process and is (therefore) said to be of twelve aspects. This much is the whole circle of the main powers of the Almighty God who is taken as perfectly powerful and all inclusive Bhairava by the virtue of such fact. Such (twelve) powers are termed somewhere as Kālīs on account of their having awareness as their forms being active in creation and absorption, limiting the scope of entities by means of definite ideation, and on account of forming definite conceptions about them

(T.A. III - 250 to 253)

Abhinavagupta takes the *Kālīnava* as an integral part and parcel of Trika system and shown that it enjoyed such position long before him and was taken like that in some ancient Āgamic texts and philosophical treatises as well.

Kalinaya was developed practically in elaborate detail and was propagated thoroughly among Śaiva aspirants for the first time by a *siddha* named Śivānanda-nātha who gave it the special name *Krama-naya* or *Krama* system of theology. Śivānanda has been mentioned by Abhinavagupta as the master of *Uttara-pitha*. Four important centres of Tāntric theology were famous in ancient ages :—

(1) *Kāmākhya*, the eastern pīṭha in Assam, (2) *Purnagiri*, the southern *pīṭha* in Andhra, (3) *Jālandhara*, the western *pītha* at Kaṅgṛā (H.P.) and *oriyāna pīṭha* at Jagannāthapurī as the central *pītha*. There were many sub-centres or *Upapīṭhas* at many places in India. Kashmir Valley is known as *Medhāpītha* under such context. It can very conveniently be accepted as the *Uttarapīṭha* of Śivanandanātha who belonged to Kashmir. The time of Śivānanda-nātha was the eighth century A.D. because Somānanda (9th century) was the fourth degree disciple in his line. The chief disciples of Śivānanda were three female *yoginis* named Keyūravatī, Madanikā and Kalyāṇikā. Three chief disciples of these *yoginis* were Govindarāja, Cakra-bhānu (known as Bhānuka as well) and Erakanatha respectively. Govindarāja imparted the detailed method of *Kalinaya* to Somānanda and his teachings reached Jayaratha in the twelfth century through a long chain of preceptors and disciples. The teachings of Cakrabhānu reached Abhinavagupta in the 10th century from Udbhaṭa who should not be confused with the author of *Udbhata lankāra* (8th century). Udbhaṭa got the knowledge of Kālī-worship from Ujjata who got it from an oral tradition came down through a line of disciples of Cakrabhānu. Erakanātha remained self-centered and did not establish any line of his disciples. He tried to develop super natural powers for the whole life and became disgusted with such attainments at the end. Then he wrote just a few stotras or religious hymns. Many more practitioners, scholars and authors appeared in such traditions of the disciples of Śivanandanātha. Some of them have been mentioned by name by Jayaratha and some others of them are known to us from the lengthy passage of Kramakeli of Abhinavagupta, quoted by Jayaratha in his commentary on Tantraloka. Information about Śivanandanātha, the lines of his disciples and the history of the spread of Kālīnaya among practitioners is also obtained

...e notes written by Jayaratha and the passages of kramakelī quoted ...m. He quotes two verses from the pen of Śivānandanātha and that ...s the latter to have been an author as well.

(to be continued)



A Peep Into Abhinavagupta "Parātrīśikā" Vivaraṇam

Dr Koshalya Walli

...charya Abhinavagupta is one of the highest authorities in the arena ...shmir Śaivism. The said author in his detailed Paratrīśikā-Vivaraṇam ...sses the ways and means to identify the little I with the perfect I ...ciousness of Śiva in this very physical body. By its mere knowledge ...fication with the Universal Consciousness Power (Khecarī) is ...ed[1].

...cārya Abhinavagupta starts his Vivaraṇam with the introduction ...t his mother Vimala and father Narasiṃha Gupta[2]. He ardently ...es that his present birth that he owes to his parents be expanded into ...eme Consciousness. In his Vivaraṇam he discusses the Kaulikī Śakti ...resides in the heart (Consciousness) and is the main source of the ...e manifestation[3].

...ayaratha in his commentary on Tantrāloka says that Abhinavagupta ...s born of Siddha father and yoginī mother and thus known as yoginī

अनुत्तरं कथं देव! सद्यः कौलिकसिद्धिदम्।
...न विज्ञातमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत्।। १।। *अभिनवविवरणोपता परात्रीशिका*
...मन्नकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः।
...दुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात्।।
तन्त्रालोक १.१ परात्रिंशिका विवृति १.
3. हृदयस्था तु या शक्तिः, कौलिकी कुलनायिका।
...तां मे कथय देवेश! येन तृप्तिं लभाम्यहम्।। २।।
...न्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भवतः।। तन्त्रालोक Vol I पृ १४

Bhū[5]. The Primordial Guru is Śiva Himself. His one of the names is Śrīkantha[6]. Abhinavagupta remembers Him at the outset of writing his VIVARAṆAM[7].

According to Jaideva Singh, Kaulikī Siddhi means the achievement of the unification of the empirical consciousness with the Divine Universal Consciousness in this very body[8]

Khecari is the Consciousness Power that moves about on the plane of Bodha or the Universal Divine Consciousness[8] This Universal Divine Consciousness is Thought-free (Avikalpa), complete, undivided, unconditioned and integral. It is not determined or limited by any external condition. Khecarī Śakti pertains to the plane of consciousness[9].

The meaning of the word "समता is sameness. 'Khecarī Samatāṃ Vrajet" means he acquires the same integral unconditioned undetermined consciousness as That of ŚIVA or DIVINITY. A person not rising to that level does not have the experience of Khecarī"[10]. One who does not have the experience of that level, his consciousness moves about in Abodha which is only objective-external like pleasure pain etc. Abodha in this context means empirical consciousness. In his Laghuvrtti, Abhinavagupta mentions that since the empirical consciousness is determined, conditioned by blue etc , hence that is not perfect (Pūrṇa)— is not integral and unconditioned. The consciousness of Khecarī level alone is unconditioned and hence perfect (Pūrṇa) in itself[11].

Mukti in accordance with Parā-trīśikā-Vivaranam is not to be free from the existence, it means to identify with perfect I-consciousness which is essential nature of one's own self[12]. Mukti only maintains the

---

६. जयत्यनर्घमहिमा विपाशितपशुव्रजः।
श्रीमानाद्यगुरः शम्भुः श्रीकण्ठः परमेश्वरः॥ ४ परात्रिंशिका विवृत्ति॥

७ PARATRĪSIKA VIVARANAM P 6

८. खेचरी बोधभूमिसचारिणी सती इयं संविच्छक्तिः। Laghuvrtti Parātrisika

९. Paratriśikā VIVARAṆAM P.6

१०. तत्प्रकारापरिज्ञाने तु न खेचरी अबोधरूपे वेद्यांशे सञ्चरणात्। (लघुवृत्तिः पृ० २)

११ तत एव वेद्यैः नीलादिभिर्नियन्त्रितेति न पूर्णशक्तिः। लघुवृत्तिः पृ० २

12. Parātrīśikā Vivaraṇam, Jaidev Singh P.19, Notes

identification of the self with the Supreme I-Consciousness of the Divine.[13]

Homogeneousness of Khecarī Śakti, says Abhinavagupta, constitutes liberation. This homogeniousness of the Khecarī Śakti is due to the awakeness of the essential nature of the *anuttara* which is incessantly present and which arises from the bliss of the recognition of the completion of the union of the Divine Śakti with Śiva. Simply the knowledge of the Energy does not work but the constant awareness of the Energy in close contact with the Divine is the source of liberation[14]. Even if there is an iota of the ignorance of the nature of the integral Anuttara it results in the contrary state of the mind[15] Khecarī Samya does not imply to meditate for a few minutes, it means to be aware of the Divinity that works in us for all the twentyfour hours, while waking, eating, working, sleeping, serving, meditating, divinely chanting, while in office on files, at home with the family, in the social gathering etc. That transforms our mind in toto Khecarī Sāmya means constant Divine Consciousness, as a result of which, it is not a person who lives it, it is Divinity that lives in the person *Khecarī Sāmyatva* means thought free, integral and Divine Consciousness[16].

Hṛdayasthā means the Energy residing in the knowledge of the various objects brought about, by the supreme conscious base of all objective and subjective experience and experients by its own freedom[17]

Kulanāyikā is the presiding deity of the KULA i.e. body, Prana, pleasure etc in other words of objects, experient and experients; the vital energy of the collective whole of Brāhmi and other goddesses. On the plane of Śakti, she is the inmost core of the entire sensory and nervous system, and, on the plane of *NARA*, she is the female and male generative

१३. Ibid P. 20

१४ खेचरी साम्यमेव मोक्षः। तत् च अनुत्तरस्वरूपपरिज्ञानमेव सततोदित परमेश्वर्याः शिवात्मनि उभयविमर्शानन्दरूढिः। (प्रत्यभिज्ञातत्त्वविमर्शिनी) पृ० ५२

१५. अणुमात्रमपि अविकलानुत्तरस्वरूपापरिज्ञानमेव चित्तवृत्तीनां वैषम्यम्। स एव च संसारः।। प्रत्यभिज्ञातत्त्वविमर्शिनी पृ० ५२

१६. अविकल्पत्वं, पूर्णत्वं, देवीरूपत्वम् (लघुवृत्ति से)

१७. Jaidev Singh's translation Page-61

organ - the source of all production[18].

Parātriśikā interprets Kaulika as under :-

(i) Kauliki is one who though immanent in all manifestation is herself AKULĀ

(ii) One who abides in Kula (Sheer Consciousness, '*Cinmatra*'), distinct from kula or manifestation is kaula Śiva. She in whom the Kula or Śiva abides in idential form is Kaulikī The entire range of manifestation (Kula) abides as such because of being rooted in the light of AKULA (i.e. Śiva)[19]. Quoting Spandakārika, Abhinavagupta writes-"Besides being in touch with the power of Self, an individual becomes equal to that."[20]

Similarly, with the power of Spandatattva, the divinities together with the second formulae, as their indicators with the powr of omniscience proceed to carry out their assigned functions[21] According to Somānanda, 'Aya' means advancing of the mind due to jñāna or knowledge in the Hṛt or the Supreme Centre of Consciousness[22].

Abhinavagupta desires to elucidate the essence of Trika to cut asunder inevitably the knot of Māyā existing in the either of the heart, as the mind engrossed in destroying for ever the Māyic ignorance which is the root of all evil, the mind in which Śiva has penetrated and which is, a thirst for drinking the nectar of the bliss of Śiva[23].

---

१८. कुलस्य नायिका शरीरप्राणसुखादेः स्फुरत्तादायिनी, ब्राह्म्यादि देवताचक्रस्य वीर्यभूता, निखिलाक्ष नाडी चक्रस्य मध्य मध्यमरूपा जननस्थानकर्णिकालिङ्गात्मा अस्ति। (परात्रींशिका पृ० २९)

१९. तत्रैव च कुले भवा - अकुलरूपा कौलिकी। यद्वा कुले भवमकुलात्मकौलं तत् यस्यामन्तः तादात्म्येन अस्ति सा कौलिकी, कुलं हि अकुलप्रकाशरूढमेव तथा भवति। (परात्रिंशिका पृ० २९)

२०. अपित्वात्मबलस्पर्शात्।। स्पन्दकारिका - १/८

२१ तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः। प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्। (स्पन्दकारिका २.१०)

२२. हृदि अयो गमनं ज्ञानम् — P T O. P. २७

२३ इति शिवरसं पातुं येषां पिपासति मानस सततमशिवध्वसे सक्तं शिवेन निवेशितम्। हृदयगगनग्रन्थि तेषां विदारयितुं हठाद अभिनव इमा प्रश्नव्याख्यां व्यधात् त्रिकतत्त्वगाम्.। (परात्रीशिकाव्याख्या - पृ० २७)

Parātrīśikā comprises a dialogue between Devī and Bhairava. Bhairava sustains and maintains the universe, sounds the great mantra of self-consciousness (i.e. who has constantly the awareness of self, rava or sound is Bhairava). The Word भैरव is formulated from the root भृ– to sustain, maintain[24]. Paraśakti expands in the form of the universe. The Devī initiates the question about Parāśakti.

According to Abhinavagupta, Parasambandha is the highest relation between the questioner and the answerer, between guru and disciple[25].

Further, Śakti of Bhairava is virtually Devī. Devī is the power of hearing Herself. While others can't make out anything from confused buzzing sound even though it is heard by the ear. She can make out the sense of all the sounds whether that is clearly pronounced or is only indistinct confused sound.[26] A true word always teaches the heart directly.[27] Without Nara, Śakti and Śiva, there is neither word, nor meaning and nor, the mental movement.[28]

According to Bhairava, the process of creation is in His Heart.[29] Ācārya Abhinavagupta in this context says that *Hṛdaya* here means receptacle of all the existents.[30] 'Hṛdayam' means the final resting place i.e. I-AHAM.[31] Abhinavagupta quotes Yogavāsiṣṭha to bring home the hard truth that there is one in whom lies all from whom proceeds all, who is all, who is all mind, who is always constitutive of all, who is Omnipresent.[32]

Parātrīśikā gives the details of the manifestation of the universe as

२४. भैरवो भरणात्मको महामन्त्ररवात्मकश्च।

२५. तदेव परसम्बन्धमनुत्तरतथान्वितम्। षडर्धसार सर्वस्व गुरवः प्राङ्न्यरुपयन्।। P T P I

२६. Abhinavagupta's exposition P.T.P. 70

२७. न सा गीर्या न हृदयंगामिनी P T P. २७

२८. न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चित्तेर्गतिः। P.T.P. २८

२९. मम हृदयव्योम्नि P.T.P. २३

३० P T P 78

३१. Ibid

३२. यस्मिन् सर्वं यतः सर्वः, यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्य, तस्मै सर्वात्मने नमः (महाभारत – शान्तिपर्व योगवासिष्ठ VI 36 8)

under :-

The 'अ' (a) etc. are all the vowels ending in Anusvara. At their end, through correction of Kriyaśakti occur Soma (moon) and Surya (sun). In the five classes of consonants beginning successively with 'ka' and ending with 'Ma', we have the categories of the existence beginning with the earth and ending with the 'Puruṣa'. There are four dhāraṇa pertaining to Vāyu, Agni, Salila, and Indra namely य, र, ल, व, etc. Śa, Ṣa are known as five brahma: Thus beginning with 'a' and ending with 'kṣa'-it is known as sṛṣṭi or manifestation. This manifestation 'a' to 'kṣa' is always known in Tantras as the source of all the Mantras and the incantations.[33]

To sum up, Parātriśika is an eye opener to understand the real concept of mukti, worship the wheel of creation (संसार चक्र), the importance of vowels and consonants and their relation with five elements of which our gross body is made, elements of which our subtle body is made, and, thus spiritualizes the whole atmosphere within us, outside us, and around us. We feel spiritual vibrations. The present day India with such a rich cultural, philosophical and spiritual heritage, if owns it sincerely can come out of the present mud of crisis of character, moral bankrupcy, economic dishonesty, social exploitation and the like. We can understand the meaning of Dharma if we care to devote sometime to understand the practical spiritual philosophy of Kashmir Śaivism'.



---

३३. अथाद्यास्तिथयः सर्वे स्वरा बिन्द्ववसानगाः।
तदन्तः कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ॥ ५॥
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते॥ ६॥

३४. वाय्वग्नि सलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम्।
तदूर्ध्वं शादि विख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम्॥ ७॥

अ-मूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि॥ ८॥
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा। (परात्रीशिका - ५-८)

३५. परात्रीशिका by ठाकुर जयदेवसिंह पृ० ८९.

Mokṣa and the means of its attainment in Kashmir Śaivism

John H. Hughes

II

Śāmbavopāya

In order to succeed in *śāmbavopāya* the *Śaiva yogi* must possess supreme strength of awareness so that he/she does not need support to maintain his/her consciousness of self. Śaiva masters tell us that in *śāmbavopaya* the aspirant has only to maintain the thoughtless *(nirvikalpa)* state continuously. For this reason, *śāmbhavopāya* is said to be the most refined *upaya*. Here the aspirant must reside in the subtlest state of knowledge, just at the starting point of perception. This starting point is found just at the beginning of any perception or thought, before it has become determinate. In this *upāya* the aspirant, by maintaining the thoughtless state, resides in this first starting point of perception or thought simply by willing it. This *yogi* has developed such strength of awareness that he/she has only to will this to happen and it is accomplished. The Kashmir Śaiva points out that, because in *śāmbavopāya* the *yogi* has only to maintain thoughtlessness, he has no where to go and nothing to do. Residing in the thoughtless state is the means and the end. Therefore in *Śāmbavopāya* there are no means separate from what is to be achieved. Svāmī Laksmaṇa joo says, to explain this, "the means exist in the state of the meant." The *yogi* just wills to be there and he/she is there in his/her own limited subjective awareness, maintaining the continuity of thoughtlessness.

In this state the Trika Śaiva *yogi*, maintaining unbroken thoughtlessness, is waiting at the threshold of Universal Consciousness. Having accomplished this much there is nothing left for him/her to do. For Trika Śaivism this state is significant because up to this point the *yogi* has depended primarily on self-effort. Svāmi Laksmaṇa joo tells us that from this point on the entry into universal God Consciousness is automatic.

Let us try to put this into perspective. Why does the Trika Śaiva hold

that the *yogi's* own efforts can only take him to the "door of universal Consciousness?" The Śaiva argues that the *yogi* is a limited being *(jīva)* and Lord Śiva is unlimited. This *yogi* is manifested as a limited being by the supreme magical trick *(mahāmāyā)* of Lord Śiva's independent will *(svātantrya śakti)* and depends upon Lord Śiva for his/her existence. Because this *yogi* is limited and dependent he/she cannot force that unlimited divine reality of which he/she is a manifestation to reveal itself. Kashmir Śaivism holds that it is by the grace of God *(śaktipata)* in the form of the grace of the master-that Lord Śiva is revealed. When the disciple, by maintaining thoughtlessness, reaches the entrance of the *śambhava* state, he/she is said to be capable of receiving the master's grace. Svāmī Lakṣmana joo explains that it is this grace that carries the disciple to absorption in universal God Consciousness.[11]

Śāktopāya

It is the nature of the world of particularity and diversity that our lives are filled with myriad perceptions and thoughts. Each of these perceptions and thoughts has a beginning and an end. Every thought and every perception comes into being, exists for some time, and then comes to an end. This, Śaivism teaches, is the nature of thinking and perception. I look at the pen on my desk and then turn to look at a book lying just next to it. In the first instance I look at the pen and the perception of the pen comes into existence, exists for some time, and ceases to exist. This perception is replaced by the perception of the book which comes into existence, exists for some time, and ceases to exist. This, in turn, is replaced by another perception, and so on. And the same is true with thoughts. In fact, every moment of our lives is filled with these mental moments of creation, preservation, and destruction. For the Kashmir Śaiva what is important and exciting in his understanding is that between the end of one thought or perception and the beginning of another there is a gap. It may be ever so momentary but there is a gap. And-this is most important-within the gap shines that universal Reality of Śiva, which lies at the background and is the ground of all diversity.

---

11 Swami Lakshmanjoo, *Kashmir Shaivism: The Secret Supreme* (Albany, N.Y.: State University of New York Press, 1988), 34.

Unlike *śāmbhavopaya*, *śāktopāya* involves more readily definable techniques. In *śaktopāya* the aspirant achieves absorption in universal Consciousness by concentrating on the Supreme Being as found in the junction between any two actions or thoughts. In this *upāya* there is no need for the recitation of mantras or concentration on the breath. Here the aspirant has to mentally catch hold of that junction *(sandhi)* which resides in all the activities and thoughts that make up our lives. This Śaiva masters call "centering" *(madhyam dhyatvā)* To accomplish this centering the aspirant must develop great firmness of awareness. Without this intensity of awareness the aspirant will not be able to achieve the purpose of *śaktopāya*, which is to enter into universal Consciousness existing in the center between any two thoughts or actions. Such a *yogi* would then be qualified only for *āṇavopāya*.

Through developing this intensity of awareness the *yogi* will be able to maintain a continuity of unbroken awareness. The Śaiva explains that this is important, for it is only by maintaining a chain of unbroken awareness that the *yogi* will be able to discover the reality of the gap In *śaktopaya* all actions, all thoughts are fit for such practice These gaps exist everywhere While raising your arm and putting it down, between two steps, between the waking state and the dreaming state, between the dreaming state and the state of deep sleep, between the outgoing breath and the incoming breath, at all of these moments junctions exist. Furthermore, all practices which are essentially *āṇavopāya* practices are, for the aspirant residing in *śaktopāya*, *śaktopaya* practices if they are done with full unbroken awareness.

Svāmī Lakṣmaṇa joo tells us that the goal of the *śaktopāya* aspirant is to develop ever increasing firmness of awareness, making him/herself capable of receiving the *guru's* grace. When the *yogi* reaches this state he/she is said to be in that state which is described as "being at the feet of the *guru*."[12] This aspirant is then fit to achieve absorption in universal Consciousness. When this *yogi* receives the grace of the *guru* in *śāktopāya*, he/she reaches that state of mystical absorption which merges and is one with the supreme mystical absorption *(samāveśa)* existing in the *śāmbhava* state.

12. Swami Lakshmanjoo, *Kashmir Shaivism "The Secret Supreme,"* 35.

Āṇavopāya

Ānavopaya, the most inferior of the three *upāyas* in Kashmir Śa. is the one concerned with anu, the individual soul. In *aṇavopāy* aspirant needs support and help from all sides to maintain, focu strengthen his/her awareness. We have seen how the *śāktopāya* asp has more strength of awareness. His/her strength of awareness is sucl only one point is needed as a support for his/her concentration, nan the center. And in *śāmbavopāya* the aspirant has developed such stre of awareness that he/she only needs to will to be in his/her own nature this takes place. There is no where for him/her to go and nothing tc done. He/she is already residing in the object of this *upāya*. So, *ānavopāya* the aspirant needs all support, in *śaktopāya* the aspirant nee some support, and in *śāmbavopāya* the aspirant needs no support.

In *ānavopāya* the aspirant takes the help of many different process to aid him/her in maintaining and strengthening his/her awareness. He/sh may employ concentration on breathing *(uccāra)*, concentration or experience through a particular sense organ *(karana)*, meditative contemplation *(dhyāna)*, or concentration on some particular place *(sthāna-prakalpanā)*. All of these various practices, details of which follow, may be undertaken together or separately as an aid to developing his/her awareness.

Uccāra, concentration on the breath, is a fundamental element of practice in *āṇavopāya*. In *uccāra* the aspirant concentrates on the flow of the breath and, in particular, on the point between the outgoing and incoming breath and the point between the incoming and outgoing breath.

In *karana* the aspirant maintains one pointedness through vision or another sense such as hearing. The sense of sight, however, is most important. For example the aspirant may go on gazing at particular object without blinking his eyes. In this process he/she should try to maintain an unbroken chain of awareness When that perception vanishes, as it will when he/she enters into the vastness of the center, this practice is complete

Meditative contemplation *(dhyāna)* is another practice in *anavopāya*. There are many different forms of *dhyāna*. To meditate on the lotus in your

heart, or on the meaning of a *mantra* such as *"so'ham" or "Śiva,"* are forms of *dhyāna*. In this practice the aspirant concentrates on these sounds, locations or forms along with thinking and reflecting on their meaning. It is said that contemplation on the meaning of spiritual words is a higher form of contemplation than contemplation on an object with form. Anytime an aspirant uses *mantras* in his/her practice it is considered *dhyāna*. And it is not uncommon to find *dhyāna* combined with *uccāra* and *karaṇa,* as in the practices of *cakrodaya* and *ajapā gāyatrī* to be described below.

Sthāna-prakalpanā means concentration on some particular place. In the lower, ordinary form of *sthāna-prakalpanā* the aspirant must concentrate on different points in the body. In Kashmir Śaivism there are three main places for concentration, between the eyebrows, the pit of the throat and the heart In the higher more refined practice of *sthāna-prakalpanā* the aspirant must see the vastness of this universe existing symbolically in the span of one breath. Svāmī Lakṣmana joo explains that in this higher form of *āṇavopāya* the aspirant must discover where each aspect of reality is found in the span of one breath The "reality" Lakshmanjoo is describing is said to encompass the realm of the gods (devas), the locations of the protectors of the world *(lokapala s),* and the astronomical locations including but not confined to the location of the dawn, sunset, and midnight, and so on. All of these points and positions are to be located and concentrated on in the span of one individual breath.[13]

Of the numberless practices which are found in *āṇavopāya,* there are two practices which stand out as most typical: *cakrodaya* and *ajapā gāyatrī*. Both of these practices incorporate *uccāra,* concentration on breath, *dhyāna,* contemplation with *mantra,* and *karaṇa,* meaning here one pointedness through the sense of sight. Furthermore, according to the advice of the aspirant's master, *sthāna-prakalpanā* may also be included.

In the practices of *cakrodaya* and *ajapā gāyatrī, uccāra* functions as the central element. In both of these practices the *yogi* continues breathing deeply seeking to become aware of the center between the outgoing and incoming breath, and the incoming and outgoing breath. While also being

13 Swami Lakshmanjoo, ***Kashmir Shaivism, "The Secret Supreme,"*** 38

aware of the flow of the breath in the total breathing cycle, predominance is given to the beginning point and the ending point. The two practices, however, differ in one important respect. In *ajapa gāyatrī* the *yogi* maintains a slow and silent movement of the breath, while in *cakrodaya* he/she maintains a slow movement of the breath along with the sound of breathing. In both these practices, along with breathing, the aspirant mentally repeats the mantra given to him by his/her master.

The aspirant in these practices must maintain full awareness in the center between the two breaths. Svāmī Lakṣmaṇa joo specifies that this awareness must be lively, indeed, it should be "continually fresh, new, and filled with excitement." Certainly, it should not become routine. The *yogi* should be excited by his/her practice.[14] Through the strengthening of his/her awareness the aspirant will enter into this center between the two breaths. His/her practice will become *śāktopāya*, he/she will enter into the mystical absorption *(samaveśa)* of *śāktopāya*. Finally, the *yogi* will attain the mystical realization of *śāmbhavopāya*.

It is important to realize that though there are different *upāyas*, all of these *upāyas* lead the yogi to the state of one transcendental Consciousness. The difference in the *upāyas* is that *aṇavopāya* takes longer, *śāktopāya* is a shorter way, while *śāmbhavopāya* is the quickest. Although the means are different, the end to be achieved is one.[15]

Mokṣa

One might ask whether *śambhava-samāveśa*, the mystical absorption in the state of Śiva, is equivalent to *moksa*, liberation. In fact, it is not. It certainly must exist if mokṣa is to occur but it is not its defining characteristic. Abhinavagupta tells us in the *Tantrāloka* "*Mokṣa* only exists when your being becomes absolutely independent *(svatantrā&tmaka)*,"[16] What is this "independence" that Abhinavagupta specifies as

14 Swami Lakshmanjoo, "Talks on Practice," in John Hughes, *Self Realization in Kashmir Shaivism the Oral Teachings of Swami Lakshmanjoo* (Albany, N.Y. State University of New York Press, 1994), 42.

15. Swami Lakshmanjoo, "Talks on Practice", 40.

16 Swami Lakshmanjoo, translation and commentary on Tantrāloka I 31, July 1975, tape recording in possession of the author

the necessary condition of *moksa*? We have seen above that it is repeatedly declared that an essential characteristic of Lord Śiva is his independence. It is explained that Lord Śiva created this universe by means of his independence. Śiva's independence means complete unbridled freedom, freedom to will, freedom to know, freedom to do. According to Abhinavagupta, a *yogi* can only be said to be liberated when he/she possesses this absolute independence. For a *yogi* to be independent, nothing must be able to limit him/her or overshadow his/her universal consciousness. This means that this *yogi* must experience the same state of universal Consciousness, the same independence, in the external world as he/she does in the mystical absorption of the *śāmbhava* state. From the Trika Śaiva point of view, until he/she attains this state he/she cannot be said to be absolutely independent or to have attained *mokṣa* (liberation).

Svāmī Lakṣmaṇajoo in discussing the supreme mystical absorption of *śāmbhava* explains how the *yogi's* internal mystical trance becomes fused with and transforms his/her external experience *(vyutthāna)*. He tells us that this process begins when the *yogi* is experiencing the state of internal mystical awareness, when he/she is relishing the fullness of his universal Consciousness. At that moment he/she is pulled out into the world of external experience. His/her eyes open and he/she experiences the world. But this external experience is different, it is now filled with the oneness of universal Consciousness. He/she may experience a chair but the experience of this chair is filled with God Consciousness. He/she may see a tree and the experience of this tree is filled with God Consiousness. Everywhere he/she looks, whatever he/she sees is filled with God Consciousness Then again his/her eyes close and he/she is drawn inside. And again, after a few moments he/she is drawn outside and opens his/her eyes experiencing the world filled with the oneness of God. He/she cannot stop this process. Even though the *yogi* may try to stop this process he/she cannot. This process of going fom inside to outside, back inside, and again outside is automatic and continues for some time. This is the process known as *krama-mudrā*.

In clarifying this process, Svāmī Lakṣmaṇa joo tells us that what this *yogi* is eperiencing is the fusing of his/her inner and outer world in the oneness of God Consciousness He says that the aspirant s I-Conscious-

ness, his/her universal Consciousness, is diluted in consciousness-of-this, consciousness of the external world, and consciousness of-this is diluted in I-Consciousness. Here the fullness of I-Consciousness absorbs "thisness", external objectivity, and produces the oneness of internal mystical trance *(samādhi)* and external experience *(vyutthana)*. The nature of this *yogi* and the external world become one. They are experienced as being completely united, one with the other. There is absolutely no difference between them. This process of *krama-mudra*—resulting in the absolute oneness of universal Consciousness and the outer world—is the state of absolute independence. The *yogi*, in this state, experiences that the internal world of mystical trance and the external world are absolutely the same. This independence and absolute oneness gives rise to the state of *jagad-ānanda* (universal bliss)[17].

To further explain this state of *jagad-ānanda*, Abhinavagupta says, "My master Śambhunātha described *jagad-ānanda* as the state that is completely unencumbered, where bliss *(ānanda)* is found shining, where it is universally strengthened by the Supreme I Consciousness of God, and where the six limbs of yoga-*bhāvanā, dhāranā, dhyāna, pratyāhara, yoga,* and *samadhi*—are no longer used or required."[18]

This aspirant, whose being has become absolutely independent *(svatantrātmaka)* and who possesses the state of *jagad-ānanda*, is said to be a *Jīvanmukta*, a being who is liberated while living. In the *Bodhapañcadaśikā*, Abhinavagupta tells us that when the aspirant attains real knowledge of reality, which is the existent state of Lord Śiva, that is final liberation.[19] What is this real knowledge? Real knowledge exists when the aspirant comes to understand that this whole objective universe of diversity and duality is just a trick, the play of Lord Śiva. That does not mean that it is a trick which creates an unreal world. For the Trika Śaiva liberated *yogi* the world does not disappear as the teachers of Advaita

---

17 Swami Lakshmanjoo, "The Secret Knowledge of Kundalinī," in John Hughes, Self Realization in Kashmir Shaivism, the Oral Teachings of Swami Lakshmanajoo (Albany, N.Y.: State University of New York Press, 1994), 112-13

18 Swami Lakshmajoo, "The Secret Knowledge of Kuṇḍalini," This is translation of Tantraloka 6.51-52, 113.

19. Swami Lakshmaṇajoo, "Fifteen Verses of Wisdom," 31

Vedānta like to proclaim. The goal is not the world-oblivion of *kaivalya* (isolation). We have seen how this objective world is just as real as Lord Śiva. The trick lies in the fact that it causes the limited individual to experience this world of diversity as the only reality. Real knowledge exists when the aspirant becomes one with God Consciousness, which is the same as attaining perfect Self knowledge. In possessing real knowledge he/she knows that the world of differentiation is not actually different from Śiva, the supreme reality.

The cycles of bondage and liberation are both one with Lord Śiva. It is only his trick that we think that some souls are bound in ignorance while others are elevated. As only Lord Śiva exists, there is not any second think that could cover or bind him. It is only his play that we think that this covering of diversity actually exists as a separate reality which covers him. There is not a second being or reality. His trick, therefore, is *our trick*. Why? Because we are Lord Śiva. We have concealed ourselves in order to find ourselves. This is his play, and therefore it is our play.

This is clearly illuminated by the concept of *anupāya*. The Sanskrit word *anupāya* literally means *'no upāya'*. We have already seen that in Kashmir Śaivism there are three *upāyas, śambhavopāya, śāktopāya,* and *āṇavopaya*. In addition to these three *upayas* another called *anupaya* is also mentioned. As the name implies, *anupaya* is not actually an *upaya*, for in *anupāya* there are no means. The one who has attained *anupāya* has only to observe that nothing is to be done. Just to be is enough. In *anupaya* the aspirant experiences that everything is filled with his own God Consciousness. In fact, *anupāya* is the unexplainable reality of the liberated aspirant. In *anupāya* the *Śaiva yogis* are filled with the realization that they were never ignorant and are therefore not now liberated. They know that nothing was lost and nothing is gained. What could they have been ignorant of and what are they liberated from? They experience that it was their own play, their trick that they appeared ignorant before and liberated now. They know that they are Śiva and that this world is their own playground.



Sadguru
Aṣṭottaraśata Nāmāvalī

Composed by : Makhanlal Kukiloo
Transliteration, translation and commentary by :
Jankinath Kaul 'Kamal'

(Continued from April 1997, P.28)

२१. स्तोतृ-स्तुत्य-स्तोत्र

(stotr stutya-stotra)

The divine power unifying the praiser, praised and praise.

It is the trichotomic nature of the primordial power, i.e. Prakṛti, that brings about the sense of duality, which develops into diversity that forms the univers. A person of high intellect and pure mind only can absorb this trichotomy through intense deliberation to attain the unity of self that brings perennial joy of peace and bliss. Perseverence in sādhanā and courage (determination) to hold on endowed Svāmi Laksmaṇa Joo with this state of supreme bliss. He absorbed the trichotomy of praiser, praised and praise into the divine unity that was evident in his Jīvanmukta state

२२. आद्यन्तहीन-नरोत्तम

(Adyantahina narottama)

The eternal man, without beginning and end

Lord Krishna said to Arjuna— "Know that (eternal man) to be indestructible—That by which all this (manifestation) is pervaded. None can destroy this immutable " This implies that the soul is eternal. It has neither a beginning nor an end The embodied soul only enters a new body when the old becomes worn out.

Gurudeva Lakṣmana, adept in spiritual lore, realized that supreme self that has no beginning, no end.

---

१. अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।। भगवत् गीता ।। १९

२३. शुद्ध-शान्त-सुलक्षण

(Śuddha-Śānta-Sulakṣana)

Thou art pure, peaceful and endowed with divine qualities.

Supreme reality is pure. It cannot carry the taint of the three impurities1 which abound in its manifestation of the universe. Union with supreme self is peaceful as it cannot be overpowered by Māyā — the illusion, by the virtue of which one considers this universe as distinct from the supreme spirit. Contentment, compassion and curiosity[1] are the few important qualities which point to the bliss of eternal prosperity that may be called 'liberation' (Mokṣa)

Īśvarasvarūpa Svāmi Lakṣmaṇa Joo was an embodiment of Purity, peace and divine qualities. Our humble salutations to him.

२४. आनन्दरूप-अनुत्तर

(Ânandarupa-anuttara)

Thou art blissful in thy transcendence.

Divine Bliss is the nature of Supreme Self. In its perfection of purity it is the inexpressible beautitude of supreme bliss. It is only experienced and is not related.

Blessed is Gurudeva Laksmaṇa who spoke this reality to his devotees in his charming silence[2].

२५. अज-ईश-सर्वेश्वर

(Aja isa-sarveśvara)

Thou art eternal soul, supreme controller and master of the universal process.

Those who go beyond the visible variety of this universe, realize the eternal self. They control (i e. divert towards the divine) the senses and

---

१. Referecne to ibid II-22

2- The three impurities that bring about ignorance are

- (i) Āṇavamala - The feeling of incompleteness.
- (ii) Māyīyamala - The feeling of duality.

merge the elemental world process in the unity of self. They attain peace and bliss of eternal beautitude.

This was the magnitude of achievement of Guru Lakṣmana. May he grant eternal beautitude to his devotees.

२६. भीम-रुद्र-मनोहर

(Bhima rudra-manohara)

You assume the terrific form of Śiva for atheists, you appear as Rudra, a dreadful inferior agent of Śiva, to those who do not follow the proper line of law (Dharma). At the same time thou art charming for thy devotees.

"Blessed Being! Blessed Being!
O Greetings be to Thee"

—Lakṣmana Raina

२७. हंस-शर्व-दयामय

(Hamsa-Śarva Dayamaya)

Thou art the ideal discriminator who distinguishes reality from unreality to merge in the supreme truth that pervades both inside and outside the manifested universe. Thou art Śarva, the destroyer of duality. You destroy the ego and evolve in the supreme I-Consciousness (Pūrṇāhantā). Thou art full of compassion for thy devotees to deliver them from the monster of Ego.

Gurudeva Lakṣmaṇa! You lived this glory in Jīvanmukta form also.

२८. द्वैतेन्धनदाहक-पावक

(Dvaitendhanadāhaka-pavaka)

Thou art the fire of knowledge that burns the fuel of duality

"May you be glorified O Mighty Fire!
Brilliantly lustrous from smearing the ashes

---

3 "मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्त्वं" —दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्
(iii) Kārmamala - Attachment and hatred
4- Intense desire for liberation

that remain of the universe,
Your sole oblation[1]."

Tr. C. Rhodes Bailly (New York)

Gurudeva Lakṣmana worked to this glory.

We hail thee O Lakṣmaṇa! as Śiva.

२९. मान्य-गण्य-सुभूषण

(Mānya-Ganya Subhusana)

Being the essence of self. Thou art revered by all. Having realized the supreme self thou art laudable among the few. Thou art the decoration of thy devotees.

Their earnest desire to know the self earns thy devotees thine own charm. O Gurudeva Lakṣmaṇa!

३०. शक्तिशरीर-परभैरव

(Sakti śarira-parabhairava)

Thou art the light of awareness rightly known as immanent self or cit-prakāśa And, as such thou art the supreme lord of creation, preservation and dissolution. The supreme power of Śiva works in you as all pervading supreme sprit.

"Salutation to venerated Lakṣmaṇa—

The lion among men,
That supreme spirit of joy,
Who evinced great intelligence
For investigating the supreme truth".[2]

(Obeisance -Tr. Jankinath Kaul 'Kamal')

---

1. विश्वेन्धनमहाक्षारानुलेपशुचिवर्चसे।
महानलाय भवते विश्वैकहविषे नमः॥

Sivastotravali II-2

2. "तं वन्दे श्री लक्ष्मणं नरहरिं सच्चित्सुखं देशिकम्।"
(नमस्कुर्महे स्तोत्रम् जानकीनाथ कौल 'कमल' विरचितम्।)

विज्ञानभैरव–समीक्षात्मक अध्ययन

मूलप्रवचनकार–
शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

II

(गतांक से आगे)

परापरायाः सकलम् अपरायाश्च वा पुनः।
पराया यदि तत् वत् स्यात् परत्वं तद्विरुध्यते॥ ५॥

नहि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत्।
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वे न तद् भवेत्॥

अन्वय– *पुनः (किं) सकलम् परापरायाः च अपरायाः?*
यदि वा परायाः तत् वत् स्यात् तत् परत्वं विरुध्यते।
नहि परत्वं वर्णविभेदेन वा देहभेदेन भवेत् निष्कलत्वेन,
सकलत्वे न तद् भवेत्॥

माता पार्वती ईशान से पुनः एक और प्रश्न पूछती है, कि हे नाथ! आगमग्रन्थों में मन्त्रविशेष का ध्यान करने योग्य जो विशेष सकलस्वरूप कहा गया है क्या वह परापराशक्ति का है? या अपराशक्ति का है? या पराशक्ति का है? यदि पराशक्ति का स्वरूप भी परापरा या अपराशक्ति के समान ही माना जाये तो पराशक्ति का परत्व (प्रकृष्टत्व) कैसे सिद्ध हो सकता है? (अतः इन तीनों शक्तियों अथवा अवस्थाओं में परस्पर भेद मानना पड़ेगा)।

पराशक्ति का परत्व (प्रकृष्टत्व स्वरूप) वर्णभेद (सफेद, नीला, लाल, काला आदि) के आधार पर, अथवा देहभेद (आकार विशेषता) के आधार पर नहीं माना जा सकता परन्तु निष्कलता (कलना शून्यता) की स्थिति में ही उसका परत्व सिद्ध होता है सकलत्व में नहीं, अर्थात् यह परावस्था सभी दिशाओं में, सभी कालों में कलना से शून्य है, नाम, देश, दूरी आदि के उद्देश्य से इसमें किसी विशेषता को जोड़ा नहीं जा सकता। सकलत्व ससीम है निश्चित है, सामान्य गुणों के दायरे में आ सकता है पर निष्कलत्व सर्वथा भिन्न है।

सकलत्वे न तद्भवेत् का पाठान्तर सकलत्वेन वा भवेत् भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

हे प्रभु! मुझे परापरा अवस्था के विषय में बताइये जिसकी अवस्थिति विशेष मन्त्र और विशेष आकार में है। "परापरायाः सकलं रूपं ब्रूहि, अपरायाश्च सकलं रूपं ब्रूहि", मुझे समझाइये कि अपरा का सकलरूप (Composite nature) विशेषमन्त्र (वर्ण) और विशेष आकारभेद के आधार पर क्या है? क्योंकि वर्ण और देह भेद नामक दो वस्तुओं का ध्यान 'रूप' में रखना पड़ता है। वर्ण या मन्त्र के भेद का उदाहरण 'सौः' मन्त्र को यदि हम ले तो 'सौः' मन्त्र से हमें उस स्थिति का अनुभव हो सकता है जब हम अवरोह क्रम में 'अ' से 'क्ष' अर्थात् शिव से पृथिवी तत्त्व की ओर आते हैं, तो यही इस मन्त्र की विशेष संरचना अवस्था भी है। रूप के अन्तर्गत वर्णभेद "सौः" मन्त्र है और देहभेद इस मन्त्र का अवरोह क्रम का अनुसरण करना है। इस प्रकार मुझे 'परापरा' और 'अपरा' का सकलरूप (Composite nature) कहिये और इस तथ्य पर भी प्रकाश डालिए कि क्या 'परा' अवस्था का 'सकलरूप' भी 'परापरा' और 'अपरा' अवस्थाओं के समान ही है।

तत् परत्वं विरुध्यते—यदि 'परा' का सकलरूप भी 'परापरा' अवस्था के सकलरूप के समान ही है या 'अपरा' शक्ति के सकलरूप के समान ही है, तो परा शक्ति का परत्व (प्रकृष्टत्व) अर्थात् सर्वोत्तम भाव कैसे सिद्ध हो सकता है। यह तो सर्वविदित है कि 'परा' इन दोनों अवस्थाओं (परापरा और अपरा) से श्रेष्ठतम है। परत्वं तत् विरुध्यते का तात्पर्य यह है कि तत् परत्वं विरुध्यते अर्थात् यदि हम ऐसा नहीं मानेंगे तो वह परता (Supermacy) उस परा शक्ति में कैसे मानी जायेगी?

नहि वर्ण-विभेदेन देहभेदेन वा भवेत्, परत्वं इति शेषः।

परत्वं—परता अर्थात् स्वात्मसाक्षात्कार की सर्वोच्च अवस्था, मन्त्र विधि या आकार विधि से (by the process of formations) प्राप्त नहीं हो सकती है।

वर्ण-विभेदेन का तात्पर्य है मन्त्रों की पद्धतियों से। देहभेदेन का तात्पर्य है कि देश, काल, आकार आदि के माध्यम से भी "परता" की सिद्धि असंभव है। यद्यपि ये वर्णभेद तथा देहभेद सकलत्व की सीमा में आते हैं परन्तु परता की प्राप्ति **निष्कलत्वेन**—कलना शून्यता से (because of its undivided nature) होती है। **सकलत्वेन**—सकलरूप से, (the individual way) **परत्वं न भवेत्**—परता की प्राप्ति अदृश्य होती है। अर्थात् सकलत्वरूप परा शक्ति को परता की दशा में सुसंस्थित करने में सक्षम नहीं है।

प्रसादं कुरु मे नाथ! निःशेषं छिन्धि संशयम्।

प्रसादं कुरु—दया कीजिये। **मे**—मुझे। **नाथ!**—हे स्वामी। **निःशेषं**—सम्पूर्ण रूप से, **छिन्धि**—काट लीजिये। **संशयं**—सारे संकल्पविकल्पों को।

हे स्वामी! मुझ पर दया कीजिये और मेरे संकल्प विकल्पों को सम्पूर्ण रूप से हटाइये।

(इस श्लोकार्ध के बाद "भैरव उवाच" जोड़ना चाहिए क्योंकि बहुत सारी प्रामाणिक प्रतियों में यह पाठ मिलता नहीं है)

भैरव उवाच

पार्वती जी के प्रश्न का उत्तर भैरवरूप शंकर इस प्रकार देते हैं–

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये।। ७।।
गूहनीयतमं भद्रे तथापि कथयामि ते।

अन्वय– *हे प्रिये ! साधु साधु त्वया पृष्टम्।*
हे भद्रे! इदं तन्त्र सारम्। गूहनीयतमं तथापि ते कथयामि।

हे प्रिये ! हे भद्रे—सबका कल्याण करने वाली हे देवि! यह तुमने बहुत अच्छे प्रश्न पूछे हैं। इन प्रश्नों का सम्बन्ध तन्त्रों के सार के साथ है। अतः यह बात बहुत ही छिपाने के योग्य है, फिर भी इस रहस्य को तुम्हें मैं बताता हूँ।

साधु साधु त्वया पृष्टम्—हे पार्वती! आपने मुझे अच्छा प्रश्न पूछा।

तन्त्रसारं इदं प्रियेः—हे प्रिये! यह सारे तन्त्रों का सार है।

गूहनीय तमं भद्रेः—हे कल्याण करने वाली देवि! यद्यपि यह गोपनीय है, फिर भी इसे रहस्य ही रखना चाहिये। इसे किसी भी रूप में प्रकट नहीं करना चाहिए क्योंकि यह गुप्त बात है। इतना कुछ होते हुए भी मैं इस रहस्य के विषय में तुम्हें सब कुछ बताऊँगा।

यत्किञ्चित् सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम्।। ८।।
तदसारतया देवि! विज्ञेयं शक्रजालवत्।

अन्वय—*हे देवि ! यत् किचित् भैरवस्य सकलं रूपं प्रकीर्तितं तत् शक्रजालवत् असारतया विज्ञेयं।*

हे देवि! भैरव के जो सकल और निष्कल दो रूप बताये हैं उनमें भैरव का जो सकलरूप

(Composite form) कहा गया है वह इन्द्रजाल (magic) की तरह धोखा देने वाला है। वह असार हैं।

यत् किंचित् रूपं—प्रभु का जो भी कोई रूप वर्णविभेद या देहभेद के अन्तर्गत या कलना शून्य है जो सारे तन्त्रों में विशेष रूप से समझाया गया है, उसका केवल उल्लेख मात्र ही है पूरी तरह से समझाने के अभिप्राय से कुछ नहीं लिखा गया है। वास्तव में यह समझने के उपयुक्त भी नहीं। यह भ्रम है क्योंकि यह सारहीन है। उदाहरण के तौर पर पहिले पूछे गये प्रश्न शब्दराशिकलना या पञ्चाशतरूप कलना, या नवात्म मंत्र कलना, या त्रिविध यात्रा, या एकादशरूप यात्रा - ये सारी बातें अर्थहीन हैं। **तत् असारतया देवि**—हे देवी! इनमें ग्रहण करने योग्य कोई बात नहीं। इतना ही नहीं—

मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्व-नगर-भ्रमम्॥ ९॥

यह केवल माया (illusion) है, यह स्वप्नतुल्य है, और यह आकाशस्थित गन्धर्वनगर के समान काल्पनिक है।

माया—यह केवल माया का ही विस्तार है। ये सारी अवस्थायें स्वप्न के समान असत्य हैं। यह झूठी धारणा है। **गन्धर्व नगर भ्रमम्**—आकाश स्थित गन्धर्व नगरी के समान काल्पनिक है। कहने का तात्पर्य यह है कि सकलस्वरूप की सत्ता इन्द्रजाल या गन्धर्व नगर की सत्ता के समान भ्रम पर आधारित होने के कारण सारहीन हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि फिर क्योंकर इन सारी अवस्थाओं का उल्लेख तत्रों में हुआ है? भैरवागमों में इन पद्धतियों की व्यवस्था किस अभिप्राय से की गई है? इसका समाधान करते हुए लिखा गया है—

ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम्।
केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम्॥ १०॥

अन्वय— *क्रियाडम्बर वर्तिनां, भ्रान्त बुद्धीनां,*
विकल्प निहतात्मनां पुंसां केवलं ध्यानार्थं वर्णितम्॥

इसमें प्रचलित पाठ "निहतात्मनां" के स्थान पर स्वामी जी महाराज ने "निहितात्मनां" पाठान्तर उपयुक्त माना है।

भैरव के इस सकल रूप का वर्णन उन लोगों के लिए किया गया है, जिनका मन उलझा

हुआ हो, जो साधना के महत्त्व से अनजाने हों, जो सांसारिक क्रिया आडम्बरों में वि. हों और जो संकल्प विकल्पों की सीमा में बंधे हुए हों।

भ्रान्तबुद्धीनां–इसका तात्पर्य है वे लोग जिनकी बुद्धि (intellect) विक्षिप्त हो विकल्पों के चक्र में फंसे हुए हों।

क्रिया आडम्बर वर्तिनां–आडम्बर का अर्थ है "आरम्भ", स्वामी जी महार लौकिक उदाहरण देकर क्रियाडम्बर पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि जैसे श्रीकण महात्मा ने, (नरवीरस्थान–(आजकल का नरपरिस्तान) फतेहकपल श्रीनगर निवार ब्रह्मचारी श्रीकण्ठ जलाली, आचार्य शिवोपाध्याय के वंशज श्री आनन्द पण्डित शास्त्री व शिष्य थे। इन्होंने ईश्वर प्रणिधान तथा हरिनाम संकीर्तन में अपना जीवन बिताया, कुछ वष पूर्व ये परलोक को सिधारे) अब चण्डी याग का अनुष्ठान आरम्भ किया इस कार्य के लिए इन्होंने बहुत सारा धन इकट्ठा किया। विभिन्न सामग्रियां लाई। इस सारे कर्म को 'क्रियाडम्बर' कहते हैं। ये पद्धतियां तन्त्रों में ऐसे प्राणियों के लिए ही कही गई है। परन्तु वास्तव में ये सारे कार्यकलाप व्यर्थ हैं; इनका कोई उद्देश्य नहीं।

केवलं–केवल, **क्रियाडम्बरवर्तिनां पुंसां**–कार्यजाल में उलझे हुए व्यक्तियों के लिए, **वर्णितं**–कहा गया है। **विकल्प निहितात्मनां**–जिनका नाम सदैव संकल्प विकल्पों से विक्षिप्त हुआ है, ऐसे ही स्वात्म स्वरूप से अनभिज्ञ साधकों के लिए इस सकलस्वरूप की साधना कही गई है।

तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः।
न चासौ त्रिशिरो देवो न च शक्तित्रयात्मकः॥ ११॥

अन्वय– *असौ भैरवः तत्त्वतः न नवात्मा, असौ भैरवः न शब्दराशिः*
असौ भैरवः नच त्रिशिरो देवः, न च असौ भैरवः शक्ति त्रयात्मकः॥

यह निष्कल भैरव वास्तव में न तो नवात्मा (ninefold) है, न तो शब्दराशिस्वरूप (Consisting multitude of letters) है, न तो त्रिशिरो भैरव (a three-headed God) है, न तो शक्तित्रयस्वरूप (possessing three Energies) है। **तत्त्वतः**–वास्तव में, न–नहीं।

नवात्मा–नवात्म भेदवान् अर्थात् प्रकृति, पुरुष, कञ्चुक (पांच आवरण) माया,

शुद्धविद्या, ईश्वर तत्त्व, सदाशिव तत्त्व, विश्वात्मिकाशक्ति और शिव, ये ही नौ तत्त्व या अवस्थायें नवात्मभेद् से अभिप्रेत हैं।

असौ भैरवः—यह भैरव। शब्दराशि—शब्द राशि कला या वर्ण समूह शक्तियां अर्थात् अवरोह क्रम में 'अ' से लेकर 'क्ष' तक और आरोह क्रम में 'क्ष' से लेकर 'अ' तक की शब्दराशि कलाओं का स्वाभाविक विकास अनुत्तर तत्त्व प्राप्ति का उपाय, न-नहीं है।

त्रिशिरो भैरवः—इच्छा ज्ञान और क्रियात्मक त्रिविधशक्तियों को धारण करने वाला देवता। **न च**—और नहीं। **शक्तित्रयात्मकः**—परा, परापरा और अपरा शक्ति को धारण करने वाला।

नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधिकाः।
न चक्रक्रमसंभिन्नो न शक्ति स्वरूपकः।। १५।।

अन्वय— *(असौ भैरवः) अपिवा नादबिन्दुमयः चन्द्रार्ध निरोधिकाः न,*
चक्रक्रमसंभिन्नः न, शक्तित्रयात्मकः न।

यह भैरव न तो न तो नाद, न तो बिन्दुरूप, न तो अर्धचन्द्र, न तो निरोधिका, न तो नादान्त, न शक्ति, न व्यापिनी न समना रूप है, तथा न चक्रवेधन क्रम के आधार पर ही पाया जाता है और न शक्ति ही उसका स्वभाव है।

नाद बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी समना इन सब उपाय क्रमों में भैरव की व्याप्ति नहीं है। गतिहीन अवस्था में जाने के लिए, तीव्रतम गति में गमन करने के स्वरूप में भी यह नही है। न च शक्ति स्वरूपकं—विश्वात्मिका शक्ति का स्वरूप भी यह नही है यह कुछ और ही है। फिर वह क्या है?

अप्रबुद्धमतीनां हि एता बालविभीषिकाः।
मातृमोदकवत्सर्वं प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम्।। १३।।

अन्वय— *एता हि अप्रबुद्धमतीनां बालविभीषिकाः,*
सर्वं मातृमोदकवत् प्रवृत्त्यर्थं उदाहृतम्।

ये सब (भैरव के) उक्तस्वरूप कुछ नहीं अपितु बच्चों को डराने के लिए भूतपिशाच जैसी भ्रामक कल्पनायें हैं अथवा बच्चों को कड़वी दवाई आदि देने के लिए माता के द्वारा

दी गई मिठाई आदि के समान हैं। इन उक्तरूपों की उपासना मन्दशक्तिपात वाले लोगों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही बताई गई है।

तन्त्रों में निर्दिष्ट ये विधियां बालविभीषिकाओं के समान है और केवल अबोध प्राणियों को बुरे कर्म करने से रोकने के लिए बताई गई हैं। जैसे अबोध बालकों को यह कहकर डराया जाता है कि यदि आप यह कर्म करोगे तो पिशाच खा डालेगा। अतः ऐसा मत करो, नहीं तो वह अभी आपको चाट लेगा। इसी को "बाल विभीषिका" कहते हैं। यह 'विभीषिका–डराने की विधि" किनके लिए है? यह महान् आत्माओं के लिए तथा तीव्रशक्तिपात से समुन्नत साधकों के लिए नहीं है पर उन लोगों के लिए जो "अप्रबुद्धमती" हो अर्थात् जिनकी बुद्धि विकसित नहीं हो।

मातृमोदकवत् सर्व–

आपने दवाई लेनी है जो कड़वी है, मीठी नहीं है, स्वादपूर्ण भी नहीं है, तुम्हें भी यह दवाई लेनी अच्छी नहीं लगती है तो फिर आपकी मां क्या करती है? वह कुछ मीठा आपके मुंह में पहले डालती है और कहती है कि अब यह दवाई ले। इस तरह मां अपने बच्चे की भलाई के लिए, आढ़ में पहले मिठाई देकर दवाई देती है। इसी को मातृमोदकवत् कहते हैं।

प्रवृत्त्यर्थं उदाहृतम्–इसका तात्पर्य यह है कि ये सारे स्वरूप या ये सारी निर्दिष्टविधियां तो प्रारंभिक कार्य है। साधक को इनमें निमग्न नहीं होना चाहिए। अर्थात् ये त्रिधियां तो केवल कर्म का आरम्भ करने के लिए बताई गई है। इन्हें आरम्भ करके फिर एक ओर छोड़ना चाहिए और सही रास्ते को अपनाना चाहिए। यह सही रास्ता क्या है? इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

क्रमशः



शैवदर्शन के वातायन से।

प्रो० नीलकंठ गुरुटू

स्वशक्तिविजृम्भा– परमात्मा की स्वरूपमयी शक्ति के बहिर्मुखीन प्रसार (या विकास) को स्वशक्तिविजृम्भा कहते हैं। 'स्व'–स्वरूपमयी, 'शक्ति'=ईश्वरीय स्वातन्त्र्यशक्ति की, 'विजृम्भा' जंभाई, फैलाव। तात्पर्य यह कि जिस अवस्था में स्वातन्त्र्यशक्ति (चित्-शक्ति) अवरोह को अपनाकर शिवतत्त्व से लेकर अन्तिम पृथिवीतत्त्व तक के छत्तीस तत्त्वों के रूप में स्वरूप का प्रसार करती है तो वह स्वशक्तिविजृम्भा की अवस्था कहलाती है। शास्त्रीय परिभाषा में इसको ईश्वरीय तिरोधानलीला माना जाता है।

स्वशक्तिसंङ्कोच– इसी स्वरूपमयी स्वातन्त्र्यशक्ति के अन्तर्मुखीन 'संकोच'-अर्थात् अपने ही प्रसार को समेट कर मौलिक स्वरूप में टिकाव की अवस्था को स्वशक्तिसंकोच कहते हैं। यही शक्ति जब आरोह को अपनाकर पृथिवी तत्त्व से लेकर स्वरूप को समेटती हुई अन्तः अपने मौलिक स्वरूप में अवस्थित रहती है उसी को शक्तिसंकोच कहा जाता है। स्मरण रहे प्रस्तुत प्रसंग में 'संकोच'-शब्द से किसी प्रकार की कमी का अभिप्राय नहीं, प्रत्युत स्वरूपविस्तार के सिमटने का भाव द्योतित होता है। शास्त्रीय परिभाषा में इसको ईश्वरीय अनुग्रहलीला कहा जाता है।

शक्ति के इस स्वाभाविक विकास-संकोच या संकोच-विकास में कोई अगाड़ी-पिछाड़ी का क्रम नहीं है। दोनों लीलाएं प्रतिक्षण एक साथ ही चलती रहती हैं।

मायाशक्तिः– ईश्वरीय स्वातन्त्र्यशक्ति ही जिस अवस्था में अवरोह को अपनाकर बहिर्मुखीन प्रसार करती हो तो उसको 'मायाशक्ति' या 'महामाया' का नाम दिया जाता है अतः मायाशक्ति और स्वातन्त्र्यशक्ति ईश्वर की एक ही स्वातन्त्र्यशक्ति के दो नामान्तरमात्र हैं। शुद्धविद्या तत्त्व से नीचे वाले संसार में मायाशक्ति के ही प्रतिबिम्ब को माया-तत्त्व कहते हैं।

बीजभूमिः— जिस प्रकार पृथिवी में सारे सस्यों, वनस्पतियों इत्यादि के अगणि प्रकार के बीज हमेशा वर्तमान ही होते हैं उसी प्रकार ईश्वरीय-संवित् में असीम विश्वमयता के असंख्य प्रकार के जड़-चेतन मय पदा के बीज स्वयंसिद्ध रूप में वर्तमान ही रहते हैं, अतः उसको (संवि को) बीजभूमि कहा जाता है।

परिग्रह— अपनी इच्छा से ही किसी बात को स्वीकारना परिग्रह कहा जात है। स्वतन्त्र परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति को ही माया के रूप मे स्वेच्छा से परिग्रह करके पशुभाव के भागी बन जाते हैं।

प्राधानिक— प्रधान, मूलप्रकृति का नाम है। मूलप्रकृति से नीचे वाले तत्त्वों के विश्व को प्राधानिक-विश्व कहते हैं।

वेष्टन— यह शब्द लपेटने के अर्थ को द्योतित करता है। सर्वस्वतन्त्र शिव अपनी ही शक्ति को अख्यातिमयी मायाशक्ति का रूप देकर उसके द्वारा अपने आप को ही लपेट कर परतन्त्र जीव बन गया है।

उद्वेष्टन— अपने ऊपर लिपटे हुए अख्याति के आवरण को अपने ही सद्विमर्श के द्वारा खोलने की प्रक्रिया को उद्वेष्टन कहते हैं।

अध्यवसाय— निश्चयात्मक ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं, यह बुद्धि का धर्म है।

तन्मात्र— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध -इन पांच प्रमेय विषयों के मौलिक 'सामान्यरूप'-अर्थात् उन विभागों से रहित रूप को जिनमें अभी अलग विशेषताएँ उभरी न हों तन्मात्ररूप कहते हैं—उदाहरणार्थ शब्दतन्मात्र शब्द के उस मौलिक सामान्य शब्दरूप को कहते हैं जिसमें अभी ऊँचा शब्द, नीचा शब्द, कोलाहल, चीख, पुकार इत्यादि प्रकार की विशेषताएँ उभरी न हों। इसी प्रकार अन्य तन्मात्रों के विषय में भी समझना चाहिए।

स्वरूपाच्छादक— आत्मा के असली सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, नित्य, व्यापक एवं पूर्णरूप को छिपाने वाले आणवमल इत्यादि आवरण।

कोशत्रय— पर, सूक्ष्म एवं स्थूल इन तीन प्रकार के आवरणों से आत्मा लिपटी

हुई है, इन्ही को कोशत्रय कहते हैं। साक्षात् आत्मा पर लिपटे हुए आणवमलरूपी आवरण को पर-आवरण, दूसरे छः कञ्चुकों वाले आवरण को सूक्ष्म-आवरण और तीसरे सब से स्थूल बाहरी शरीररूपी आवरण को स्थूल-आवरण कहा जाता है। इन्हीं को क्रमशः पर-कोश, सूक्ष्म-कोश और स्थूल-कोश कहा जाता है।

मंत्रमहेश्वर– मंत्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मंत्र–ये तीन क्रमशः सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्धविद्या नामवाले तीन प्रमाताओं के पारिभाषिक नाम हैं।

अंतःकरण– मन, बुद्धि एवं अहंकार को अन्तःकरण कहते हैं।

बाह्यकरण– पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रिया। इनमें से पहली पांच ज्ञानप्रधान और दूसरी पांच क्रियाप्रधान हैं।



It is your duty not only to maintain a strict vegetarian life style but also to loudly oppose the killing of animals and the taking of meat You must communicate my message and this truth to everyone who is near and dear to you, to all your relatives mothers and fathers and sons and daughters.

Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāja

सद्गुरु गाथामाला

(तीसरा मनका)

गतांक से आगे

"तत्त्वज्ञानां तृणं शास्त्रम्" अर्थात् तत्त्व ज्ञानियों के लिए शास्त्रज्ञान तिनके के समान नगण्य है। इस मर्म को पूरी तरह से जानते हुए भी स्वामी जी महाराज लोक-मर्यादा का पालन करने के लिए भगवान् राम की तरह साधारण प्राणी का सा आचरण करते थे। लोक मर्यादा किसी भी प्रकार से भंग न हो इसका उन्हें विशेष ध्यान था। गीता जी की इस उक्ति के प्रति उनका विशेष आदर था–

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥"

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ व्यवहार करते हैं, सामान्य जन उसका ही अनुसरण करते है वे जिस आचरण को प्रमाणित करते हैं दूसरे लोग उसी को अपनाते हैं॥

उनका कर्मक्षेत्र इसी सिद्धान्त का ज्वलन्त उदाहरण था। अपने जन्मदिन के महोत्सव से लेकर, अपने गुरु महाराज की निर्वाण जयन्ती और अपने माता पिता के शिवधाम प्राप्ति दिवसों को जिस श्रद्धा लगन और निष्ठा से वे मनाते थे वह अनुकरणीय था। अवर्णनीय रंगों में रंगी हुई अपनी पारमार्थिक रूप सज्जा की ओर ज़रा भी ध्यान न देकर लौकिक भ्रान्त व्यक्तियों की तरह अनजान जैसे सारे क्रियाडम्बर का अवहित मन से विधिपूर्वक पालन करते थे। अपने सद्गुरु (स्वामी महताब काकजी) की निर्वाण जयन्ती पर आर्थिक और पारमार्थिक तराजू के दोनों भारी पलड़ों को, भक्त जनता पर न्योछावर करने के लिए उतावले रहते थे। अपने गुरु महाराज को प्रत्यक्ष पाकर भांति भांति के स्तोत्र रत्नों की मालायें अर्पण करने में कोई कमी नहीं करते थे भक्ति की उन्मत्तावस्था में विभोर होकर कभी हंसते थे और कभी आवेश में आकर अश्रुधारा से गुरुचरणों पर लगी भौतिक धूल को सलीके से पोंछते थे। कभी इनकी भावगंगा उत्पलदेव से टक्कर लेती थी और कभी आचार्य अभिनवगुप्त की दार्शनिक धरा को लहलहाती थी। गुरुभक्ति का अजस्र स्रोत यज्ञस्थली की सीमा को चारों ओर छूकर महिमामय बना बनाके गौरवान्वित करता था यज्ञ सामग्री की विविधता और बहुमात्रा याजक की अटूट आस्था और देवप्रियता का मानो एकमात्र उदाहरण थी। दूर दूर से उपवनों और उद्यानों से चुने गये विभिन्न कुसमाम्बरों से गुरु देह

को सजाकर ये गुरुसेवा का अगाध गाम्भीर्य अपने शिष्यों को विस्तार से समझाते थे। मुक्तहस्त से दान दे देकर यज्ञ की यथार्थता को सार्थक बनाते थे। जल में निमग्न कमल की तरह सांसारिक क्रिया कलाप में दत्तचित्त होके भी सांसारिक विषय वासना जल से निर्लिप्त रहते थे। भक्तों, प्रेमियों, साधकों और शिष्यों की भीड़ से अभिभूत होके भी रंचमात्र भी स्वात्मपरायणता से हटते नहीं थे। साधना में अभ्यास की महत्ता से बखूबी परिचित, होके भी वे कर्मकाण्ड की गुत्थियों में उलझे हुए रहते थे।

न दिवा पूजयेत् देवं रात्रौ नैव च नैवच।
अर्चयेत् देव देवेशं दिनरात्रि परिक्षये॥

अर्थात् "न दिन में अभीष्ट देव को पूजे न रात को; अभीष्ट देव को दिन और रात्रि के सन्धि स्थान पर पूजे।" इस धारणा के अभ्यासी होके भी न मालूम प्रातः से सायं तक यज्ञानुष्ठानों में लगकर क्या सिद्ध करने को उन्मुख रहते थे। इन्द्रजाल और गन्धर्वनगर की तरह भ्रम पर आधारित सकलस्वरूप से परिचित होके भी, नाना कर्मकाण्डों में रुचि दिखाकर वे किस तत्त्व को समझाते थे।

अपने भक्तों और प्रेमियों की असाध्य से असाध्य कामनाओं की पूर्ति करने वाले स्वयं अपने जन्म दिन पर जन्मोत्सव देवताओं की बड़ी शान से अर्चना कर क्यों कर साधारण प्राणी की तरह चिरजीवी होने की याचना करते थे। वास्तव में तत्त्वनिष्ठ ज्ञानियों का आचरण ही अनोखा और विस्मयावह होता है। ये प्रचलित रीतिरिवाजों के घने भयानक जंगल तथा शुभाशुभ कर्मों के फल, अनासक्तिरूपी हंसिया से सदा के लिए समूल काटते हैं। सद्विवेक बुद्धि की मन्त्रशक्ति से ये भेदवृत्ति के अजगर को अपने पास पटकने नहीं देते हैं। अभिमानरूपी मदोन्मत्त हाथी को इन्होंने ज्ञान के अंकुश से अपने वश में रखा होता है। अपने निर्मल क्रियाजाल में वासना के अदृश्य जन्तुओं को इन्होंने सदा के लिए उलझाके रखा होता है। "रथ्यां गमने तृणपर्णादिवत्" अर्थात् रास्ते में चलते चलते मार्ग में पाये जाने वाले विविध दृश्यों की अनुभूतियों की छाप जैसे अनायास ही मिटती है उसी तरह संसार में रहकर तथा संसार के कर्मों का आचरण करके भी उनके संस्कारों से ऐसे तत्त्वज्ञानी अछूते रहते हैं। इस अवस्था में इन ज्ञानियों की बुद्धि सत्यस्वरूपा होके सारे संसार के पाशों को काटने में सशक्त होती है। अनन्य मनस्क होके अपने आप को प्रभुचिन्तन में लगा कर निर्वाण परक शान्ति पाये ये महापुरुष कल्पलता अर्थात् स्वर्ग में पाये जाने वाले कल्पवृक्ष की तरह, किन किन अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति कराने में सक्षम नहीं होते हैं। त्याग और वैराग्य से जीवन को समुज्ज्वल बनाकर ये आदर्श महापुरुष सबों के लिए आदर्श बनकर अपना जीवनयापन करते हैं।

भक्ति भक्त भगवान् गुरु नाम चतुर्वपु एक।
मम सद्गुरु लक्ष्मण प्रभु धारे भेख अनेक॥

ईश्वर-स्वरूप सद्गुरु महाराज के व्यक्तित्व को बारीकी से झांकने पर यह बात स्पष्ट होती थी कि वे अपने भक्तों के उद्धार के लिए अहर्निश उनका ख्याल रखते थे। अपने भक्तों की भक्ति से भगवत्स्वरूप बने हुए गुरु महाराज समय समय पर भक्तों को कर्तव्य अकर्तव्य की ओर सचेत करते थे। स्वामी जी महाराज की यह विशेषता थी कि वे लौकिक या अलौकिक क्रिया कलापों के सच्चे पारखी थे। निर्माण आदि कार्यों में वे बड़े-बड़े अनुभवी अभियन्ताओं से भी अधिक अनुभवी थी। घर गृहस्थी के कार्यों में इतनी महारथ रखते थे कि पक्के आयु के गृहस्थी भी मात खाते थे। बाग-बगीचों की देखभाल में लगे कुशल मालियों को भी हाथ पकड़ पकड़ कर पौधों की सुरक्षा का काम सिखाते थे। जमीनदारी का काम इतने सलीके से करते थे कि लगता था कि जमीनदारी इनका जन्मजात व्यवसाय है। पाकशास्त्र का इतना सूक्ष्म अनुभव था कि बड़े-बड़े रसोईयों को भी उनके पास आकर पहले पाकक्रिया की शिक्षा लेनी पड़ती थी। पहिनने के वस्त्र हो या अन्य काम आने वाले कपड़े हों, वस्त्रों के रंगों का तथा गुणवत्ता का चयन ऐसा अनन्य होता था कि आँखें प्रलोभन का शिकार हो जाती थी। कपड़ों की सिलाई का इतना विशेष ज्ञान था कि दरजी को इनके आंगन में आकर ही इनके लिए कपड़े सीने का काम इनकी ही देखरेख में करना पड़ता था। कमरों की लिपाई पुताई रंगाई में रंगों का मिश्रण, उनकी मात्रा, आदि में इन्हें इतना कौशल था कि जरा सी बूंद भी बेकार नहीं हो जाती थी। पेय या खाद्य पदार्थों की मात्रा की खपत का अन्दाजा इतना सही होता था कि अवशेष जरा भी देखने को नहीं मिलता था। एक साधक के लौकिक पदार्थ ज्ञान आदि के इस उचित अनुभव को देखकर विस्मय चकित होना पड़ता था कि साधना के अगाध जल में तैरने वाला सरीखा तैराक कैसे इन अनदेखी गलियों की प्रत्येक गतिविधियों से परिचित है। योग वसिष्ठ की यह उक्ति इन पर पूरी चरितार्थ होती थी कि–

"दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया" योगाभ्यास के खिलाड़ी संसार रूपी मैदान में अपने दुर्गम अनुभवों के आधार पर खेल के जो पैंतरे दिखाते हैं उनके सामने बड़े बड़े महारथियों को नतमस्तक होके ही रहना पड़ता है। ये पवित्रात्मा ही ईश्वर के अमोघ आशीर्वाद को प्राप्त करते हैं और ये ही अपने हृदयरूपी कारागृह में प्रेममय प्रभु के दर्शन कर सकते हैं। इन पवित्रतम आत्माओं ने उस आनन्द को पाया होता है जो हमें चिरकाल के लिए दुःख से मुक्त करा देता है तथा जो पूर्ण तृप्ति और पूर्ण शान्ति प्रदान करने में समर्थ होता है। सारी सम्पदायें तथा अष्टसिद्धियाँ ऐसे महान व्यक्तियों के पाद सेवन के लिए सर्वथा

व्याकुल रहती है। कोई कोई साधक जैसे तुच्छ सिद्धि प्राप्त करते ही जीवन में लक्ष्य को भूल जाते हैं और उस सिद्धि के सामर्थ्य से धन कमाकर सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगते हैं पर हमारे सद्गुरु इसके अपवाद थे। इन्होंने सुखमय जीवन में रहकर भी जीवन के अन्तिम लक्ष्य स्वात्म परामर्श लीनता को एक क्षण के लिए भी अपनी दृष्टि से दूर नहीं रखा। उनके हृदय में भक्ति गंगा की वह बाढ़ आई थी जिसके प्रवाह में सारे बाहरी अनुष्ठान बह उठे थे, बाहरी कर्मों का बखेड़ा ध्वस्त हो चुका था, सारा कार्यक्षेत्र सद्भावना की मादकता से रंग उठा था।

स्वामी जी महाराज सदा अपने भक्तों को आगामी विपत्तियों के विषय में सचेत करते थे। कश्मीर में आतंकवाद के फैलने से दो वर्ष पूर्व गुरु महाराज को आने वाले उपद्रव के लक्षण दीखने लगे थे अतएव एक दिन उपस्थित अपार जनसमुदाय को ईश्वराश्रम में सम्बोधित करते हुए कहा था कि संयम में रहो, भगवद्भक्ति परायण होके कट्टर शाकाहारी बनो अहिंसा को अपने जीवन का मुख्य आदर्श समझो, तभी आगामी उपद्रव से आपकी आपके परिवार की तथा आपके सगे-सम्बन्धियों की रक्षा हो सकती है। उपद्रव आने वाला है। हरिनाम संकीर्तन ही रक्षा कर सकता है। सन् १९८९ के मध्य में जब स्वामी जी की भविष्यवाणी का प्रभाव धीरे धीरे नज़र आने लगा तो संत्रस्त जनता हड़बड़ाने लगी। स्वामी जी की प्रकृति में भी बदलाव के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। सन् १९९० का प्रथम चरण, संयमशील, सौहार्द और भाईचारे के आवरण को एक ओर करके जब प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में अपने घिनौने रूप को अभिव्यक्त करने लगा तो स्वामी जी की ओट ही एकमात्र सहारा दीखने लगी। निमर्म हत्याओं का सिलसिला जब आरम्भ हुआ तो स्वामीजी महाराज डंके की चोट देकर गरजते थे कि किसी भी मेरे शिष्य का बाल बांका नहीं होगा। उस समय के प्रतिकूल वातावरण को देखकर भी स्वामी जी महाराज अपने शरणागतों के माथे पर बड़ा सा तिलक लगाकर उन्हें निर्भय होने के लिए आश्वासन देते थे। दस अक्टूबर १९८९ दिन श्रीमती कमला बाबा और प्रस्तुत लेख के लेखक स्वामी जी के पास बैठे थे तो स्वामी जी महाराज मुझे कहने लगे कि कमला जी बार बार कहती है कि वह अकेली इस बड़ी हवेली में, जो आश्रम के अगलबगल में थी, रहती है। अतः वह बहुत डरती है। उससे वहां रहा नहीं जाता। यह कहकर स्वामीजी ने कमला जी को यह श्लोक सुनाया–

एककोऽहमिति संसृतौ जन-
स्त्रास साहसरसेन खिद्यते।
एककोऽहमिति कोऽपरोऽस्ति मे
इत्थमस्मि गतभीर्व्यवस्थितः।। *(परमार्थसार)*

अर्थात्–

मैं अकेला हूँ इस जग में
इस भय से दुःखता नित मम मन
सतत समाहित इस प्रतीति से मैं हूँ हर्षित
नहीं भिन्न मुझसे जग का अणु नाही जग का यह हर कण कण॥

सान्त्वनाप्रद इस शैवी समाधान से श्रीमती कमला बाबा को दाढ़स बंधा और वह मौन हुई। वास्तव में द्वित्व से एकत्व की ओर लौटना ही सर्वभयनाशक और नित्य शान्ति-दायक है। इसी सन्दर्भ में २९ अक्टूबर १९८९ को एकबार फिर स्वामी जी महाराज ने आचार्य अभिनवगुप्त के इस श्लोक को दुहराते हुए कहा कि–

यत्किञ्चिन्ममेति दीनतां
प्राप्नुवन्ति जड़जन्तवोऽनिशम्।
तन्न किञ्चिन्ममास्ति सर्वमि-
त्युद्धरां धुरमुपेयवान् अहम्॥

अर्थात्–

जो कुछ वह मेरा ही जग में
मूर्ख दीनबन जाते निरन्तर।
मेरा नहीं कुछ ऐसा सोचकर
मुक्त अयत्नवश ज्ञानी असंशय॥

स्वामी जी महाराज कश्मीर में आने वाले संकट को दृष्टि में रखकर ही मानो पहिले से ही हमें वैराग्य और ज्ञान की गंगा में नहाने के लिए अमृतमयी सूक्तियों को दुहराते रहते थे।

क्रमशः

